

मास्टर ऑफ आर्ट्स (समाजशास्त्र)

एम. ए. (समाजशास्त्र)

अनितम वर्ष

नातेदारी, विवाह उंच परिवार का समाजशास्त्र
(Sociology of Kinship, Marriage and Family)

(द्वितीय प्रश्न पत्र)



दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
चित्रकूट, सतना (म.प्र.) - 485334

नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र (Sociology of Kinship, Marriage and Family)

संस्करण—2016

प्रेरणा एवं मार्गदर्शन :

प्रो. नरेश चन्द्र गौतम

कुलपति

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

लेखक :

डॉ. राजेश त्रिपाठी

एसोसियेट प्रोफेसर, ग्रामीण प्रबन्धन विभाग

सम्पर्क सूत्र :

निदेशक, दूरवर्ती शिक्षा

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

दूरभाष— 07670—265460, ई—मेल— distance.gramodaya@gmail.com, website: www.mgcgvchitrakoot.com

प्रकाशक :

कुलसचिव

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

कापीराइट © : महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

आभार : यह अध्ययन सामग्री संबंधित पाठ्यक्रम और विषय के लिए विशेषज्ञों द्वारा तैयार की गई है। अध्ययन सामग्री को सरल, सुरुचिपूर्ण और बोधगम्य बनाने की दृष्टि से अनेक स्रोतों से प्रेरणा, संदर्भ और सामग्री ली गई है। सभी के प्रति आभार। अध्ययन सामग्री में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं। विश्वविद्यालय का इससे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

संदेश

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय की स्थापना मध्यप्रदेश शासन द्वारा एक पृथक अधिनियम से 1991 में सुप्रसिद्ध समाजसेवी पद्मविभूषण नानाजी देशमुख के प्रेरणा और प्रयासों से चित्रकूट में मंदाकिनी के तट पर हुई। विश्वविद्यालय का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण विकास के लिए आवश्यक मानव संसाधन तैयार करना है। विगत 25 वर्षों की समर्पित सेवाओं में विश्वविद्यालय ने ज्ञान—विज्ञान के विविध आयामों पर अपने शिक्षा, शोध, प्रशिक्षण और प्रसार कार्यों से छाप छोड़ी है।



ग्रामीण क्षेत्र में संसाधनों के अभाव तथा सामाजिक—पारिवारिक परिस्थितियों के कारण निरंतरता से अध्ययन करने में बाधायें आती हैं। विश्वविद्यालय ने इस समस्या के समाधान के लिए गुणवत्तायुक्त दूरवर्ती शिक्षा को प्रत्येक ग्रामीण के घर—आँगन तक पहुँचाने का संकल्प लिया है। विश्वविद्यालय का दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है।

मुझे प्रसन्नता है कि दूरवर्ती शिक्षा के विद्यार्थियों को स्वनिर्देशित अध्ययन सामग्री मुद्रित और व्यवस्थित रूप में पहुँचाये जाने का यह प्रयास न सिर्फ दूरवर्ती शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ायेगा बल्कि छात्रों को गहराई से अध्ययन करने की दिशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

A handwritten signature in black ink, appearing to read "Narеш Chandra Gautam".

प्रो. नरेश चन्द्र गौतम
कुलपति

**नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र
(Sociology of Kinship, Marriage and Family)**

इकाई प्रथम -

विषय की प्रकृति एवं महत्व

इकाई द्वितीय -

अध्ययन के अधिगम

इकाई तृतीय -

नातेदारी शब्दावली

इकाई चतुर्थ -

पारिवारिक एवं वैवाहिक सम्बन्ध

इकाई पंचम -

निवास स्थली सम्बन्धी नियम

इकाई— प्रथम

विषय की प्रकृति एवं महत्व :

समाजशास्त्र की प्रकृति :

समाजशास्त्र 'समाज' का ही 'विज्ञान या शास्त्र' है। इसके अन्तर्गत समाज एवं इसके विभिन्न पहलुओं का वस्तुनिष्ठ एवं क्रमबद्ध रूप से अध्ययन किया जाता है। यह एक नवीन विषय है तथा एक संस्थागत विषय के रूप में इसका इतिहास लगभग 165–166 वर्ष का है। समाजशास्त्र की प्रकृति के संदर्भ में विवाद पाया जाता है। कुछ विद्वान् समाजशास्त्र को विज्ञान मानते हैं, जबकि कुछ इसे अध्ययन की मानवीय शाखा समझते हैं। समाजशास्त्र के जनक अगस्त कॉम्ट समाजशास्त्र को सदैव एक विज्ञान मानते रहे हैं। कुछ समाजशास्त्री समाजशास्त्र को विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। ऐसा प्रयत्न करने वाले विद्वानों में दुर्खीम, मैक्स बेरर तथा परेटो, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

समाजशास्त्र को विज्ञान नहीं मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यह विज्ञान कैसे हो सकता है। जबकि इसके पास कोई प्रयोगशाला नहीं है, और न ही अपनी विषय सामग्री मापने में समर्थ है साथ ही उनका यह भी कहना है कि सामाजिक प्रघटनाओं की स्वयं की कुछ ऐसी आन्तरिक सीमाएँ हैं जो समाजशास्त्र को एक विज्ञान का दर्जा दिलाने में बाधक है। अतः स्पष्ट है कि समाज की प्रकृति को कुछ विद्वान् वैज्ञानिक मानते हैं तथा कुछ इसे सामाजिक विज्ञान मानते हैं, समाजशास्त्र को वैज्ञानिक प्रकृति मानने वाले वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध लगाये गये आरोपों को निराधार बताया है।

अतः स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है और उसकी प्रकृति वैज्ञानिक है इतना अवश्य है कि समाजशास्त्र उतना निश्चित विज्ञान नहीं है जितना निश्चित प्राकृतिक या भौतिक विज्ञान है। इसी कारण समाजशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानकर एक विशुद्ध या सैद्धान्तिक विज्ञान माना जाता है। स्वीकृत एवं ग्लिन ने लिखा है कि समाजशास्त्र में वे सभी विशेषताएँ हैं जो एक विज्ञान में होनी चाहिये—

1. ज्ञान में वृद्धि
2. वैज्ञानिक विधि द्वारा ज्ञान का संचय
3. सामान्य नियमों का प्रतिपादन,

NOTES

4. नियमों की व्यवहार व्यावहारिकता

5. नियमों की सहायता से अपने अध्ययन क्षेत्र का विस्तार आदि। अतः यह भी एक विज्ञान है और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

समाजशास्त्र का महत्व :

समाजशास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्व है। समाजशास्त्र के माध्यम से विभिन्न समाजों के अध्ययन के आधार पर व्यवस्थित ज्ञान संकलित किया जाता है। सम्पूर्ण मानव समाज के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करने में भी सहायक है। यह तेजी से बदलते हुए जटिल समाजों की गतिविधियों एवं सामाजिक संरचनाओं के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक ज्ञान प्रदान करता है तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक समस्याओं को समझने, उन्हें हल करने में समाज सुधार आदि में मदद देती है। समाजशास्त्र अनेक नवीन सामाजिक परिस्थितियों को अनुकूल करने में सहायक है। समाज में सह-अस्तित्व की भावना का प्रसार करने में भी सहायक है। समाजशास्त्र का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि इसके द्वारा सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन किया जाता है। यह परम्पराओं के साथ-साथ उनमें होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध कराता है।

यह ज्ञान पक्षपातपूर्ण बन्धुत्व की भावना विकसित करने, सामाजिक, सांस्कृतिक और भावात्मक एकीकरण करने और राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने में योग देता है। जटिल सामाजिक समस्याओं को हल करने उन्हें समझने में भी सहायक है। आज समाज में अपराध, बाल अपराध, श्वेतवसन, अपराध, आत्महत्या, चोरी, डकैती आदि अनेक व्याधिकीय समस्याओं के निराकरण इनके कारणों, एवं सम्बन्धों का पता लगाने में भी सहायता प्रदान करता है। श्रम समस्याओं के निराकरण, ग्रामीण पुनर्निर्माण में सहायक, नगरीय विकास, जनजातीय समस्या उन्मूलन तथा उनके कल्याण में सहायक आदि व्यवसाय का व्यावहारिक रूप से समाजशास्त्र के माध्यम से महत्व बढ़ा है। सामाजिक नियोजन, प्रजातंत्र के सफल बनाने तथा पारिवारिक जीवन को सफल बनाने में समाजशास्त्र का 'विशेष योगदान' रहा है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि भारत की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के संदर्भ में समाजशास्त्र का विशेष महत्व है।

समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषाएँ :

इस नवीन विज्ञान को जन्म देने का श्रेय 'फ्रांस' के प्रसिद्ध विद्वान 'आगस्ट कॉम्ट' को है। आपने ही सर्वप्रथम सन 1838 में इस नवीन शास्त्र का नाम 'समाजशास्त्र' दिया। इसी कारण आपको 'समाजशास्त्र का जनक' कहा जाता है।

समाजशास्त्र के शाब्दिक अर्थ के सम्बन्ध में हम पाते हैं कि समाजशास्त्र अंग्रेजी भाषा के सोसियोलॉजी का हिन्दी रूपान्तरण है। ये दो शब्दों से मिलकर बना है। पहला शब्द सोसियो जो लैटिन भाषा का शब्द है। दूसरा शब्द लोजी जो ग्रीक भाषा का शब्द है। 'सोसियस' का अर्थ है— समाज और लोगों का अर्थ है शास्त्र। समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ समाज का शास्त्र या समाज का विज्ञान है। समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने इनकी परिभाषा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दी है। समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को प्रमुखतः पाँच भागों में बाँटा गया है—

1. समाजशास्त्र समाज के अध्ययन के रूप में :

गिडिंग्स, समनर, वार्ड, ओडम, जिसबर्ट आदि कुछ समाजशास्त्री हुए जिन्होंने समाजशास्त्र को समाज के अध्ययन या समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया अर्थात् सम्पूर्ण समाज को एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन कर सकते हैं।

गिडिंग्स के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है"। अर्थात् समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या है।¹

वार्ड के अनुसार, "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।

ओडम के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो समाज का अध्ययन करता है।"

इन परिभाषाओं के आधार पर स्पष्ट है कि समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है। यहाँ हमें स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत मानव समाज का अध्ययन किया जाता है।

2. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में :

मैकाइवर एवं पेज, मैक्स बेवर, क्यूबर, अरनोल्ड एम. कुछ समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों का व्यवस्थित अध्ययन कहा है। सामाजिक सम्बन्धों से तात्पर्य हमारा दो या दो से अधिक व्यक्तियों या उनके समूहों के परस्पर अन्तःक्रिया में भाग-

लेने से है। निम्नलिखित विद्वानों ने सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर समाजशास्त्र को परिभाषित किया है—

NOTES

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार— “समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है। सम्बन्धों के इस जाल को हम ‘समाज’ कहते हैं”।

मैक्स बेवर के अनुसार— “समाजशास्त्र प्रधानतः सामाजिक सम्बन्धों तथा कृत्यों का अध्ययन है।”

क्यूबर के अनुसार— “समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान के ढाँचे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।”

रोज के अनुसार— “समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषय वस्तु व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध है। अतः हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था का क्रमबद्ध और व्यवस्थित तरीके से अध्ययन करने वाला सामाजिक विज्ञान है।

3. समाजशास्त्र सामाजिक जीवन, घटनाओं, व्यवहारों एवं कार्यों का अध्ययन :

कुछ समाजशास्त्रियों (आगर्वाल व निमकॉफ, बेनेट व ट्यूमिन, किम्बाल यंग, सोरोकिन आदि) ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, घटनाओं, व्यवहार के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है।

ऑगर्वाल निमकॉफ के अनुसार, “समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है।”

पी०वी० यंग के अनुसार, “समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है।”

बेनेट एवं ट्यूमिन के अनुसार, “समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के ढाँचे और कार्यों का विज्ञान है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि समाज का विज्ञान होने के कारण समाजशास्त्र सामाजिक जीवन का अध्ययन कराता है। इसके राथ-साथ सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्यों का अध्ययन विषय को अन्य सामाजिक विज्ञानों (जैसे— राजनीतिक

शास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि) से अलग करता है।

4. समाजशास्त्र सामाजिक समूहों के अध्ययन के रूप में :

व्यक्ति समाज में अकेला नहीं अपितु अन्य व्यक्तियों के समूह में रहता है। इसी को आधार मानकर कुछ समाजशास्त्रियों (नोब्स, हाइन तथा फ्लेमिंग जॉन्सन आदि) ने समाजशास्त्र की परिभाषा सामाजिक समूहों के अध्ययन के रूप में प्रस्तुत की है।

नोब्स, हाइन एवं फ्लेमिंग के अनुसार, "समाजशास्त्र समूहों में लोगों का वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन है।"

जॉन्सन के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, उनके स्वरूपों, उन प्रक्रियाओं जो उन संगठन को बनाये रखती है या परिवर्तित करती है और समूहों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

जॉन्सन की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, इनमें पाये जाने वाले संगठनों तथा इनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक दूसरे को प्रभावित करते हैं या अन्तःक्रिया करते हैं तो उनके मध्य सामाजिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं उन व्यक्तियों के संग्रह को समूह कहा जाता है। समूह में निम्नलिखित तीन तत्व हो सकते हैं—

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह
2. उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्धों का होना, तथा
3. उनकी क्रियाओं का आधार सामन्यहित या उद्देश्य का होना।

अतः स्पष्ट है कि समाजशास्त्र व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर सम्बन्धों की अपेक्षा समूह-समूह के परस्पर सम्बन्धों को अधिक महत्व देता है।

5. समाजशास्त्र अन्तःक्रियाओं के अध्ययन के रूप में :

कुछ समाजशास्त्री समाजशास्त्र को सामाजिक अन्तःक्रियाओं के अध्ययन के रूप में, परिभाषित करते हैं। इन समाजशास्त्रियों ने सामाजिक सम्बन्धों की बजाय सामाजिक अन्तःक्रियाओं को समाज का वार्ताविक आधार माना है। अन्तःक्रियाओं से तात्पर्य दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का जागरूक अवरथा में एक-दूसरे के सम्पर्क में आना और एक-दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करना है। अतः मैक्सबेर, गिलिन और गिलिन, जिन्सबर्ग

आदि समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को सामाजिक अन्तःक्रियाओं का विज्ञान मानकर परिभाषित किया है जो निम्नलिखित है—

NOTES

मैक्स वेबर के अनुसार, “समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं का निर्वनात्मक अर्थ व्यक्त करने का प्रयत्न करता है ताकि इनकी गतिविधि तथा परिणामों के कारण सहित विवेचना की जा सके।”

गिलिन और गिलिन के अनुसार, “समाजशास्त्र का व्यापक अर्थ व्यक्तियों के एक दूसरे के सम्पर्क में आने के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।”

जिन्सबर्ग के अनुसार, “समाजशास्त्र मानवीय अन्तःक्रियाओं, अन्तर्सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।

प्रमुख विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर परिभाषित उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर कह सकते हैं कि समाजशास्त्र मुख्य रूप से समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों के व्यवहार, कार्यों, सामाजिक समूहों एवं सामाजिक अन्तःक्रियाओं एवं सामाजिक मूल्यों के अध्ययन पर इस शास्त्र में विशेष जोर दिया गया है।

नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र :

समाजशास्त्र में ‘नातेदारी का समाजशास्त्र’ महत्वपूर्ण शाखा है। नातेदारी का सम्बन्ध विवाह एवं परिवार से है। इसलिये समाजशास्त्र की इस शाखा को ‘नातेदारी’, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र कहते हैं। परिवार समाज की एक मौलिक इकाई है। परिवार को सामाजिक नियंत्रण का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण अभिकरण माना जाता है।

परिवार का निर्माण विवाह, संस्था द्वारा होता है। विवाह दो परिवारों को पारस्परिक सम्बन्धों में बाँध देता है। इसी से नातेदारी व्यवस्था विकसित होती है।

नातेदारी विवाह एवं परिवार दोनों से सम्बन्धित हो सकती है। कोई भी समाज विवाह, परिवार एवं नातेदारी व्यवस्था के बिना अपना अस्तित्व नहीं बनाये रख सकता है। इसलिये यह शाखा समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण शाखा मानी जाती है।

अमेरिकी समाजशास्त्रीय समिति ने 1955–65 ई० के दशक में समाजशास्त्र की 39

प्रमुख शाखाओं को सहमति प्रकट की थी, उनमें 'परिवार का समाजशास्त्र' एक प्रमुख शाखा है। जिसे पहले 'परिवार का समाजशास्त्र' कहा जाता था उसे अब 'नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र' कहा जाने लगा है। नातेदारी, विवाह एवं परिवार का अर्थ सामान्य समाजशास्त्र की उस शाखा से है जिसमें इन तीनों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। विवाह से परिवार का निर्माण होता है। विवाह एवं परिवार से ही नातेदारी की श्रृंखला का प्रारम्भ होता है। इसलिए नातेदारी को विवाह सम्बन्धी नातेदारों एवं रक्त सम्बन्धी नातेदारों में विभाजित किया जाता है।

नातेदारी, विवाह एवं परिवार के समाजशास्त्र की प्रकृति:-

समाजशास्त्र को एक क्रमबद्ध व व्यवस्थित ज्ञान के रूप में परिभाषित किया गया है। विज्ञान का अर्थ प्रकृति या मानव जीवन से सम्बन्धित घटनाओं व व्यवहार से सम्बन्धित ऐसा व्यवस्थित ज्ञान है जिसका सत्यापन किया जा सकता है। विज्ञान की प्रमुख विशेषता में प्रमाणिकता या सत्यापनशीलता, वस्तुनिष्ठता, निश्चयात्मकता, सामान्यता, क्रमबद्ध, कार्यकरण सम्बन्ध तथा पूर्वानुमान को सम्मिलित किया जाता है। नातेदारी विवाह एवं परिवार के समाजशास्त्र में विज्ञान की सभी विशेषतायें पाई जाती है। इसलिए समाजशास्त्र की इस शाखा की प्रकृति वैज्ञानिक मानी जाती है। इसकी वैज्ञानिक प्रकृति को अग्रप्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग :

वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ही नातेदारी, विवाह एवं परिवार सम्बन्धी उपकल्पनाओं का परीक्षण एवं सामाजिक नियमों या सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है।

2. प्रामाणित ज्ञान पर आधारित अध्ययन :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार का अध्ययन तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर इन तीनों की व्याख्या करते हैं। वास्तविक परिस्थितियों में इसका अध्ययन अवलोकन या अन्य प्रविधियों द्वारा किया जाता है।

3. क्या है का अध्ययन :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र तथ्यों का यथार्थ रूप से वर्णन तथा व्याख्या करता है तथापि इनके शास्त्रीय स्वरूप का अध्ययन वर्तमान स्पर्श को समझने के

लिये ही किया जाता है।

4. तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार के समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा प्राप्त आँकड़ों को व्यवस्थित करने के लिये उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जाता है।

5. कार्यकरण सम्बन्धों की व्याख्या :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र अपनी विषय वस्तु में कार्य-कारण सम्बन्धों एवं परिणामों का पता लगाता है तथा तुलनात्मक पद्धति द्वारा सम्बन्धों का निरीक्षण भी करता है।

6. सामान्यीकरण या सिद्धान्त-निर्माण का प्रयास :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार के समाजशास्त्र में वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है तथा इसमें सामान्यीकरण करने एवं सिद्धान्तों का निर्माण करने के प्रयास भी किये जाते हैं।

7. सामाजिक सिद्धान्तों का पुनर्परीक्षा :

विज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि उसके द्वारा प्रतिपादित नियमों का पुनर्परीक्षण हो और इस कसौटी में समाजशास्त्र की यह शाखा खरी उतरती है।

8. भविष्यवाणी करने में सक्षम :

चूँकि समाजशास्त्र की इस शाखा में कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज करता है, अतः इसके आधार पर एक समाजशास्त्री परिस्थितियों के आधार पर भविष्य का पूर्वानुमान लगाने अर्थात् भविष्यवाणी करने की क्षमता होने के कारण समाजशास्त्र की इस शाखा की प्रकृति वैज्ञानिक मानना उचित होगा।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र की इस शाखा की प्रकृति निश्चित रूप से वैज्ञानिक है। फिर भी इसमें सामान्य समाजशास्त्र पर विज्ञान न होने सम्बन्धी जो आरोप लगाये जाते हैं, वे भी कुछ सीमा तक लागू होते हैं।

नातेदारी, विवाह एवं परिवार के समाजशास्त्र का महत्व :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार के विषय क्षेत्र में सामाजिक जीवन के, संस्कृति आदि के सभी क्षेत्र आ जाते हैं। इसलिये इस शाखा को समाजशास्त्र की अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं विस्तृत

शाखा मानी जाती है। आदिम समाज एवं आधुनिक समाजों का प्रमुख आधार नातेदारी एवं परिवार रहा है।

चूंकि समाजीकरण एवं संस्कृतिकरण के हस्तान्तरण में इस शाखा का महत्वपूर्ण स्थान है, इसलिये भी नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र में महत्व रहा है। धर्म का भी इस शाखा में महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। धर्म के अनुसार नातेदारी, विवाह एवं परिवार सम्बन्धी मूल्यों, प्रतिमानों, कानूनों के नियमों का पालन सभी अनुयायी को करना पड़ता है।

विवाह के परिणामस्वरूप परिवार का निर्माण होता है। इससे नातेदारी व्यवस्था का विकास होता है। समाज की निरन्तरता एवं स्थिरता को समझने की दृष्टि से भी समाज शब्द की शाखा का विशेष योगदान रहा है।

शिक्षा की दृष्टि से सर्वप्रथम बच्चा परिवार में जन्म लेता है। परिवार से ही सभी प्रकार के ज्ञान, उसका समाजीकरण, संस्कृतिकरण, नातेदारी एवं सम्बन्धों के बारे में, अपने पराये के बारें में, समाज में उचित—अनुचित में भेद तथा अनेक क्रिया—कलाप, वह परिवार से ही सीखता है। समाजशास्त्र की इस शाखा का शैक्षिक महत्व भी है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र, सामान्य समाजशास्त्र की उपयोगी एवं महत्वपूर्ण शाखा है।

2. मौलिक शब्द एवं संप्रत्यक्ष :

वंश :

प्रत्येक जनजातीय सामाजिक संगठन में अपने नियम कायदे, कानून, ऊँच—नीच, भेदभाव, निकटता एवं दूरी तथा अधिकार एवं कर्तव्य सम्बन्धी व्यवहार हेतु स्पष्ट नियम होते हैं। लेकिन जनजातीय सामाजिक संगठन में अर्जित प्रास्थिति का अभाव होता है, इसलिये व्यक्ति की पहचान उसके परिवार एवं वंश द्वारा की जाती है। जनजातीय सामाजिक संगठन में परिवार को लघुत्तम इकाई मानते हैं। इसके ऊपर की इकाई स्वजनों की है जो जैविक एवं अनुवांशिकता द्वारा बँधे होते हैं। इन्हीं स्वजनों से वंश का निर्माण होता है। अनेक वंश मिलकर एक गोत्र का निर्माण करते हैं तथा एक गोत्र पुनः अनेक रूपों में विस्तृत हो सकता है। इन्हीं को परिवार का विस्तृत स्वरूप या समूह कहते हैं। परिवार के विस्तृत समूहों में वंश एवं वंशानुक्रम का प्रमुख स्थान है।

वंश परिवार से बड़ा परन्तु गोत्र से छोटा समरक्त समूह होता है। नातेदारी समूहों में एकपक्षीय समूहों का सामान्यतम उदाहरण वंश है। इसकी रचना उन एकपक्षीय रक्त समूहों से होती है जो बहिर्विवाही समूह के रूप में समूहबद्ध होते हैं।

श्यामचरण दुबे ने वंश को परिभाषित करते हुए लिखा है— “जब पिछली पाँच-छः पीढ़ियों से ही किसी ज्ञात पूर्वज का पता चले और उसकी सन्तानि विस्तारित परिवारों में फैली रहे तो विस्तारित परिवारों के उस वृहत् समूह को वंश कहा जायेगा।”

थियोडोरसन एवं थियेडोरसन ने समाजशास्त्र के शब्दकोश— में वंश की परिभाषा इन शब्दों में दी है, “वंश एकपक्षीय समरक्त वंशानुक्रम समूह है जिसके सदस्य अपनी उत्पत्ति किसी ज्ञात सामान्य पूर्वज से बताते हैं।”

इरावर्ती कर्वे के मतानुसार— वंश को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है कि, “वंश पिता से पुत्र की और आने वाली उत्तरोत्तर वंशानुक्रम रखा का नाम है।”

इस प्रकार, वंश स्वजनों की उस इकाई का नाम है जो कि जैविक एवं आनुवंशिकता द्वारा बँधे हुए होते हैं। वंश में सम्मिलित प्रत्येक परिवार अपना परिचय वंश के किसी प्रसिद्ध एवं ज्ञात व्यक्ति से देता है जिसे वह अपने परिवार का संस्थापक मानता है।

उपर्युक्त विवेचना से वंश की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हैं—

1. सामान्य ज्ञात पूर्वज—प्रत्येक वंश का एक सामान्य एवं ज्ञात पूर्वज होता है।
2. एकपक्षीय समूह— वंश एकपक्षीय समूह है। इसमें या तो वंश पिता से पुत्र की ओर अथवा माता से पुत्री की ओर विस्तृत होता है।
3. समरक्त समूह—वंश ऐसा समूह है जिसके सदस्य आपस में एक सामान्य पूर्वज की सन्तान होने के नाते रक्त सम्बन्धी होते हैं।
4. बहिर्विवाह— एक ही वंश के सदस्य भाई व बहन होते हैं अतः वे परस्पर विवाह नहीं कर सकते हैं।
5. अनेक पीढ़ियाँ—वंश में लगभग पाँच-छः पीढ़ियों के परिवार सम्मिलित होते हैं।

गोत्र मातृत्व :

जनजातीय सामाजिक संगठन में गोत्र का प्रमुख स्थान है। यह जनजातीय सामाजिक संगठन के प्रमुख आधार के साथ-साथ इससे सामाजिक संगठन में सुदृढ़ता एवं संश्लिष्टता

बनी रहती है। एक गोत्र के सदस्य अपने आपको सम्बन्धी मानते हैं जो कि अनिवार्य रूप से रक्त सम्बन्धी न होकर पौराणिक भी हो सकते हैं।

गोत्र अंग्रेजी के क्लैन का हिन्दी रूपान्तर है। इसकी उत्पत्ति यूरोप में स्थित स्काटलैण्ड के पहाड़ी लोगों की भाषा के 'गैलिक' शब्द से हुई है जिसका अर्थ वंशज है। गोत्र का अर्थ एक सजातीय वंशानुक्रमण समूह से है। सामान्यतः गोत्र को हम कई वंशों का एक समूह कह सकते हैं।

गोत्र माता या पिता के किसी एक पक्ष अर्थात् मातृवंश गोत्र या पितृवंश के सारे रक्त सम्बन्धियों से मिलकर बनता है।

मजूमदार एवं मदान के अनुसार— “एक गोत्र अधिकांशतः कुछ वंश समूहों का योग होता है जो अपनी उत्पत्ति किसी पूर्वज से मानते हैं। यह पूर्वज कल्पित मानव या मानव के समान पशु, पेड़ या निर्जीव वस्तु के रूप में हो सकता है।”

माता-पिता के नाम से जो गोत्र चलता है उसका आधार वंश परम्परागत होता है। मातृसत्तात्मक गोत्र में परिवार माता के गोत्र के नाम पर चलता तथा पितृसत्तात्मक गोत्र में परिवार पिता के गोत्र के नाम पर चलता है। यहाँ हम माता के गोत्र अर्थात् गोत्र मातृत्व को समझेंगे।

मातृत्व परिवार में गोत्र माता के नाम पर चलता है। मातृत्व गोत्र में किसी एक स्त्री को पूर्वज माना जाता है तथा इसमें स्त्री तथा उसके बच्चे, उस स्त्री की बहनें एवं उनके बच्चे तथा उन बच्चों की लड़कियों के बच्चे सम्मिलित होते हैं।

मातृत्व परिवार गोत्र में माता का स्थान सर्वप्रथम होता है। ऐसे गोत्रों में स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता होती है। इन गोत्रों में बच्चों की देख-रेख एवं पालन-पोषण का अधिकतर माता का होता है। मातृत्व गोत्र में पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती है। सभी सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार माता के सम्बन्ध से ही निश्चित होते हैं। सबसे छोटी लड़की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी मानी जाती है। परन्तु ऐसे परिवारों में माता के भाई या बहन का लड़का सम्पत्ति का उत्तराधिकारी भी हो सकता है।

मातृत्व परिवार के गोत्र में धार्मिक कार्यों में स्त्रियाँ पुरुषों से आगे रहती हैं। लेकिन स्त्रियों के साथ-साथ पुरुषों को भी सामाजिक-राजनीतिक विषयों में सम्मानित पद को प्राप्त

कराते हैं। मातृत्व गोत्र में पुरुषोचित समस्त अधिकार पुरुषों का ही होता है।

मातृत्व परिवार गोत्र को जनजातीय समाजों में अधिक प्रचलित है।

NOTES

अर्धाश :

जब एक जनजाति के सभी गोत्र केवल दो भागों में विभाजित होकर संगठित हो तो उस पूरे संगठन को द्वैत संगठन या द्विदल संगठन कहते हैं और इनमें से प्रत्येक के आधे भाग को अर्धाश या गोत्रार्द्ध कहते हैं। अर्धाश बहिर्विवाही समूह होता है। अतः एक अर्धाश के सदस्य अपना विवाह सम्बन्ध दूसरे अर्धाश गोत्र के साथ ही स्थापित करते हैं। बोण्डो जनजातिय का युगम संगठन दो अर्धाश ऑटल तथा किल्लों को लेकर बना है ये दोनों ही बहिर्विवाही अर्धाश या गोत्रार्द्ध हैं। जब कभी अर्धाश संख्या की दृष्टि से छोटी या बड़ी होने लगती है तो उसे पुनर्गठित किया जा सकता है और सम्पूर्ण समूह के दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है। यह दोनों ही अर्द्धाश जनजातीय संगठन को चलाने में सहयोग देते हैं।

मलेशिया, आस्ट्रेलिया और उत्तरी अमेरिका में बहुत से समुदाय इन अर्द्धाशों में बंटे हुए हैं।

मजूमदार और मदान लिखते हैं, "किसी जनजाति के सभी कुल जब केवल दो भ्रातृदलों में बंटे रहते हैं तब इससे पैदा होने वाली सामाजिक संरचना को द्वैध संगठन कहते हैं और इनमें से प्रत्येक भ्रातृदल को अर्धाश या गोत्रार्द्ध कहते हैं"।

नातेदारी :

मनुष्य समाज में जन्म के बाद से ही अनेक लोगों से सम्बन्धित हो जाता है। इन सम्बन्धों में रक्त एवं विवाह के आधार पर बने सम्बन्ध अधिक स्थायी एवं घनिष्ठ होते हैं। सम्बन्धों का निर्माण मानव द्वारा की जाने वाली सामाजिक अन्तःक्रिया का ही परिणाम है। जिन विशिष्ट सामाजिक सम्बन्धों द्वारा मनुष्य बंधे होते हैं वे सम्बन्ध समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं, उन सम्बन्धों को हम नातेदारी के अन्तर्गत सम्मिलित कर सकते हैं। सभी समाजों में नातेदारी एवं विवाह सामाजिक जीवन के आधारभूत संतम्भ हैं।

नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा :

नातेदारी से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों की व्यवस्था से है जो कि प्रजनन एवं वास्तविक वंशावली के आधार पर परस्पर राम्बन्धित है अर्थात् विवाह या रक्त

सम्बन्धों के आधार पर जुड़े हुए व्यक्ति नातेदारी व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

नातेदारी की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. **रॉबिन फॉक्स** के अनुसार— “नातेदारी की अत्यन्त सामान्य परिभाषा यह है कि नातेदारी केवल मात्र स्वजन अर्थात् वास्तविक ख्यात् अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध हैं।
2. **रेडकिलफ ब्राउन** के अनुसार— “नातेदारी सामाजिक उददेश्यों के लिये स्वीकृत वंश सम्बन्ध है जो कि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परात्मक सम्बन्धों का आधार है।”
3. **एस०एल० शर्मा** के अनुसार— “नातेदारी उस व्यवस्था का नाम है जो स्वजनों के परस्पर सम्बन्धों को नियमित करती है। ये स्वजन वास्तविक हो सकते हैं और काल्पनिक भी।”
4. **लूसी मेयर** के अनुसार— “बन्धुत्व में सामाजिक सम्बन्धों को जैविक शब्दों में व्यक्त किया जाता है।”

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि नातेदारी व्यवस्था से अभिप्राय नातेदारी सम्बन्धों द्वारा बंधे व्यक्तियों की व्यवस्था है। परिवार, वंश, कुल, गोत्र आदि ऐसे समूहों के कुछ उदाहरण हैं।

नातेदारी की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. नातेदारी व्यवस्था सार्वभौम व्यवस्था है तथा यह सर्वत्र समाजों में ही विद्यमान रही है तथा आज भी है।
2. नातेदारी व्यवस्था में विशिष्टता पाई जाती है अर्थात् इसका स्वरूप विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न हो सकता है।
3. नातेदारी व्यवस्था सामाजिक संगठन का आधार है।
4. नातेदारी व्यवस्था सरलतम व्यवस्था है जिसे समझना एवं व्यक्त करना एक सरल कार्य है।
5. नातेदारी व्यवस्था सरल समाजों की अपेक्षा जटिल समाजों में अधिक भिन्नता रखती है।

नातेदारी की श्रेणियाँ :

व्यक्ति के अनेक नातेदार होते हैं तथा वह सभी से समान सम्पर्क, निकटता एवं

घनिष्ठता नहीं रखते हैं। कुछ अधिक निकट तो कुछ दूर होते हैं। सम्बन्धों के आधार पर नातेदारों को विभिन्न श्रेणियों में बाँट सकते हैं— जैसे— प्राथमिक, द्वितीय, तृतीयक, चातुर्थिक तथा पाँचमिक आदि।

मरड़ॉक ने नातेदारी का गहन अध्ययन किया है—

1. प्राथमिक सम्बन्धी :

जब व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है, तो उसे हम प्राथमिक सम्बन्धी कहते हैं। उदाहरण के लिये— पिता—पुत्र, पिता—पुत्री, माता—पुत्र, भाई—भाई, भाई—बहन आदि प्राथमिक रूप से सम्बन्धित हैं।

2. द्वितीयक सम्बन्धी :

जो लोग उपर्युक्त प्राथमिक सम्बन्धियों के प्राथमिक सम्बन्धी हैं, उन्हें हम द्वितीयक सम्बन्धी कहते हैं। जैसे— चाचा—भतीजा, मामा, नाना, नानी, सास—ससुर, देवर—भाभी आदि।

3. तृतीयक सम्बन्धी :

इस श्रेणी में उन नातेदारों को समिलित किया जाता है जो हमारे प्राथमिक सम्बन्धों के द्वितीयक सम्बन्धी या हमारे द्वितीयक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी हैं। उदाहरणार्थ— पितामह हमारे तृतीयक सम्बन्धी होगे। दादा के पिता भी तृतीयक सम्बन्धी हैं।

उत्तराधिकारी :

प्रत्येक समाज में व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति उसके नातेदारों या उत्तराधिकारी में देने की अपनी परम्पराएँ होती हैं। प्राचीन साहित्य में उत्तराधिकार शब्द का अधिक प्रयोग किया जाता था। इससे अभिप्राय सम्पत्ति के हस्तान्तरण से है। प्रत्येक समाज में सम्पत्ति के हस्तान्तरण के अपने कुछ नियम होते हैं जो ये निर्धारित करते हैं कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति किसे हस्तान्तरित होगी। उदाहरण के लिये— एक पिता की सम्पत्ति अधिकार समाज में उसके लड़कों को उत्तराधिकार में मिलती है। अर्थात् पिता की सम्पत्ति का अधिकार पुत्र को मिलना, पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा।

उत्तराधिकार के रूप में स्व अर्जित सम्पत्ति तथा पूर्वजों की सम्पत्ति दोनों को समिलित किया जाता है। पहले इन दोनों प्रकार की सम्पत्ति का हस्तान्तरण मिताक्षरा पद्धति के अनुसार होता था। इस पद्धति के अनुसार सम्पत्ति के भागीदारों का निर्धारण पिता से पुत्र,

पुत्र से पुत्र, पुत्र के पुत्र, विधवा, पुत्रियों, पुत्रियों के पुत्र, माँ, पिता, भाई, भाइयों के पुत्र इत्यादि निर्धारित क्रम में होता है। इस पद्धति में उत्तराधिकार का आधार पितृवंशीय परम्परा का सिद्धान्त है। याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर की टीका के अनुसार व्यक्ति के अपने रक्तकणों की प्राथमिकता से उत्तराधिकार का उपर्युक्त क्रम ही सही है। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1556 के अनुसार उपरोक्त क्रम में परिवर्तन किया गया है तथा इस अधिनियम द्वारा पुत्रियों, विधवाओं एवं माताओं को सम्पत्ति में पुत्रों के बराबर हक़दार माना है। यह बात अलग है कि इस अधिनियम के पारित होने के बाद भी स्त्रियाँ पिता की सम्पत्ति पर अपना उत्तराधिकार नहीं जताती। उत्तर-पश्चिम भारत में अभी भी स्त्रियाँ स्वयं अपने कानूनी हक को लेने के स्थान पर इसे भाई को देना अधिक पसन्द करती हैं।

उत्तराधिकारी के रूप में परिवार उन नियमों का बनाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वंशानुगत सम्पत्ति प्राप्त हो सके। यदि यह उत्तराधिकार के नियमों की व्यवस्था न हो तो जिसके पास अधिक अधिकार तथा शक्ति होगी वही सारी सम्पत्ति को अपने अधिकार में ले लेगा।



परीक्षा उपयोगी विस्तृत उत्तरीय प्रश्न :

1. समाजशास्त्र की उपयुक्त परिभाषा दीजिये तथा इसकी व्याख्या करते हुए विभिन्न शाखाओं की विवेचना कीजिये?
2. समाजशास्त्र किसे कहते हैं? इसकी वास्तविक प्रकृति की विवेचना कीजिये?
3. समाजशास्त्र की वैज्ञानिक पद्धति को समझाते हुए समाजशास्त्र के महत्व को स्पष्ट कीजिये?
4. नातेदारी, विवाह एवं परिवार का समाजशास्त्र क्या है? भारत में इसके महत्व पर प्रकाश डालिये?
5. नातेदारी, विवाह एवं परिवार के समाजशास्त्र की प्रकृति एवं महत्व को स्पष्ट कीजिये?
6. वंश किसे कहते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिये?
7. गोत्र से आप क्या समझते हैं? गोत्र के महत्व तथा अर्धांश को समझायें?
8. नातेदारी व्यवस्था किसे कहते हैं? इसकी विभिन्न श्रेणियों की विवेचना कीजिये?
9. नातेदारी क्या है? इसकी विशेषताएँ बताइयें?
10. उत्तराधिकारी की अवधारणा विस्तार पूर्वक समझाइयें?

■■■

ऐतिहासिक एवं उद्दिकासीय अभिगम—ऐतिहासिक अभिगम :

ऐतिहासिक अभिगम का प्रयोग समाजशास्त्रीय अध्ययनों में अनुपम घटनाओं एवं परिस्थितियों को समझने के लिये अनेक विद्वानों ने प्रयोग किया है। अनेक विद्वानों ने अपने अध्ययन में ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग किसी संस्था के उद्गम विकास या परिवर्तन को समझने के लिये किया है। इसी को ऐतिहासिक अभिगम कहते हैं। इन घटनाओं या परिस्थिति का अध्ययन उनके विशेष प्रारम्भिक कारकों का पता लगाकर किया जाता है।

बॉटोमोर के अनुसार ऐतिहासिक अभिगम का अभिप्राय उन प्रारम्भिक परिस्थितियों का वर्णन करना है जो कि विशेष घटना को जन्म देती है। ऐतिहासिक अभिगम में सामान्यतः ऐतिहासिक सामग्री या द्वितीय क्रम के प्रलेखों से संकलित आँकड़ों का ही प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक अभिगम समाजों, सभ्यताओं, समुदायों, घटनाओं या संस्थाओं के विकास क्रम या समय क्रम में अध्ययन करने का अभिगम है। मुख्य रूप से इसका प्रयोग उत्पत्ति, विकास या परिवर्तन तथा रूपान्तरण से सम्बन्धित अध्ययनों में ही किया जाता है। टी०बी० बॉटोमोर ने अपने शब्दों में ऐतिहासिक अभिगम “सामाजिक संस्थाओं, समाजों और सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास और रूपान्तरण की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करता है। यह मानव इतिहास के सम्पूर्ण विस्तार और समाज की समस्त प्रधान संस्थाओं से सम्बद्ध है अथवा यह एक विशेष सामाजिक संस्था के सम्पूर्ण विकास से सम्बन्धित है।”

इसके जन्मदाता के०आर० पोपर माने जाते हैं। समाजशास्त्र में ऑगस्ट कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, कार्ल मार्क्स, मैक्स बेवर जैसे विद्वानों ने इसका प्रयोग अपने अध्ययन में किया है।

भारत में नातेदारी, विवाह एवं परिवार के अध्ययनों में शास्त्रीय ग्रन्थों का बहुधा प्रयोग किया गया है। जी०एस० धुरिया, इरावती कर्वे, के०एम० कैपाडिया इत्यादि के अध्ययनों में प्राचीन ग्रन्थों पर आधारित सामग्री को ढूँढने का प्रयास किया गया है।

ऐतिहासिक अभिगम की उपयोगिता :

ऐतिहासिक अभिगम समाजशास्त्र का एक विशिष्ट एवं उपयोगी अभिगम है। इसका

महत्व निम्नांकित बातों से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. विशिष्ट घटनाओं का अध्ययन :

NOTES

ऐतिहासिक अभिगम विशिष्ट एवं अनुपम घटनाओं के अध्ययन में अत्यन्त उपयोगी है। यह घटनाओं की विशिष्टता समझने में सहायता प्रदान करता है। जैसे कि विभिन्न आन्दोलनों 1887 का स्वतंत्रता संग्राम।

2. वर्णनात्मक अध्ययन :

ऐतिहासिक अभिगम विभिन्न विशिष्ट एवं अनुपम घटनाओं के विशुद्ध वर्णन करने में अत्यन्त उपयोगी अभिगम है। वर्णनात्मक अध्ययनों का समाजशास्त्र में विशेष स्थान है।

3. उत्पत्ति एवं विकास सम्बन्धी अध्ययन :

ऐतिहासिक अभिगम समाजों, सम्यताओं, घटनाओं, संस्थानों इत्यादि की उत्पत्ति, विकास एवं परिवर्तन सम्बन्धी अध्ययनों में अत्यन्त उपयोगी है। इनको समझे बिना हम वर्तमान स्वरूप को नहीं समझ सकते।

4. वर्गीकरण :

ऐतिहासिक अभिगम अध्ययन सामग्री या संकलित तथ्यों के वर्गीकरण में भी सहायक है।

5. सामान्यीकरण :

ऐतिहासिक अभिगम अधिक विस्तृत सामान्यीकरणों में सहायक नहीं है। परन्तु इससे सीमित सामान्यीकरण भी किये जा सकते हैं।

6. समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं नियमों का सत्यापन :

ऐतिहासिक अभिगम समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं नियमों के सत्यापन की परीक्षा करने में सहायता प्रदान करता है। ऐतिहासिक सामग्री एकत्रित करके हम सिद्धान्तों एवं नियमों की परख कर सकते हैं।

7. उपकल्पनाओं का निर्माण :

ऐतिहासिक अभिगम उपकल्पनाओं के निर्माण का भी स्रोत है। जब किसी घटना के बारे में ऐतिहासिक सामग्री का संकलन करता है तो उसे अनेक नवीन तथ्यों या विभिन्न तथ्यों में सम्बन्धों का पता चलता है। जिसके आधार पर उपकल्पनाओं का निर्माण कर राकर्ते हैं।

ऐतिहासिक अभिगम की सीमाएँ :

ऐतिहासिक अभिगम की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं जिसके कारण आज समाजशास्त्र में इसका प्रयोग अन्य की अपेक्षा कम होता है।

1. ऐतिहासिक सामग्री का अभाव :

ऐतिहासिक अभिगम के प्रयोग के लिये अनिवार्य है कि जिस घटना का अध्ययन इसके द्वारा किया जा रहा है। उसके बारे में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो। परन्तु कुछ घटनाएँ ऐसी हो सकती हैं। जिसकी विश्वसनीय ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो। तो ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में यह अभिगम नहीं अपनाया जा सकता।

2. ऐतिहासिक सामग्री के संकलन में कठिनाई :

भूतकाल की घटनाओं के अध्ययन से सम्बन्धित होने के कारण कई बार ऐतिहासिक सामग्री सरलता से उपलब्ध नहीं हो पाती। जिससे तथ्यों के संकलन में कठिनाई आती है।

3. सत्यापनशीलता में कठिनाई :

ऐतिहासिक अभिगम के अध्ययनों में ऐतिहासिक सामग्री का प्रयोग किया जाता है। लेकिन उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की सत्यता की जाँच करना कठिन है।

4. केवल वर्णनात्मक अध्ययन :

ऐतिहासिक अभिगम द्वारा केवल घटनाओं का वर्णन ही किया जा सकता है विश्लेषण का नहीं। इस अभिगम द्वारा हम गणनात्मक आंकड़ों का संकलन नहीं कर सकते हैं।

5. केवल भूतकालीन घटनाओं का अध्ययन :

ऐतिहासिक अभिगम अधिकतर भूतकाल की घटनाओं में सहायक है। यह वर्तमान तथा भविष्य की घटनाओं के अध्ययन में सहायक नहीं है।

6. सैद्धान्तिक नियमों की स्थापना सम्भव नहीं :

ऐतिहासिक अभिगम के बारे में अधिकांश समाजशास्त्री स्वीकार करते हैं कि इस अभिगम द्वारा केवल घटनाओं का वर्णन ही कर सकते हैं। ऐतिहासिक सामग्री की प्रामाणिकता की जाँच करना भी कठिन है। जिससे सैद्धान्तिक नियमों के निर्माण में बाधा पड़ती है।

7. काल्पनिक तथ्यों का प्रयोग :

घटना की प्रारम्भिक अवस्थाओं के बारे में अनुमान लगाने के लिये अनेक बार

काल्पनिक तथ्यों का प्रयोग किया जाता है। जो कि सम्पूर्ण अध्ययन को अवैज्ञानिक बना देता है।

NOTES

यद्यपि ऐतिहासिक अभिगम की सीमाओं के कारण समाजशास्त्र में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत कम होता जा रहा है। फिर भी औद्योगिक समाजों तथा ऐतिहासिक निर्वचनों को प्रस्तुत करने में यह अभिगम सभी उपयोगी हैं।

उद्विकासवादी अभिगम :

उद्विकास निरन्तर होने वाली एक प्रक्रिया है। किसी सीधी एवं सरल वस्तु का कुछ निश्चित स्तरों से गुजरकर जटिल अवस्था में पहुँचना ही उद्विकास है। उद्विकास के सिद्धान्त के प्रतिपादक डार्विन है इन्होंने जैविक परिवर्तन के लिये इस प्रक्रिया को लागू किया। समाजशास्त्र में इसे हरबर्ट स्पेन्सर, मॉर्गन तथा टॉयलर जैसे विद्वानों ने समाज के सन्दर्भ में इस सिद्धान्त को लागू किया है।

सामाजिक उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा :

उद्विकास का अर्थ है विकास अथवा किसी वस्तु का आन्तरिक विकास यह निश्चित स्तरों में होने वाला परिवर्तन है। प्रमुख विद्वानों ने इसकी परिभाषाएँ निम्नलिखित प्रकार से दी हैं—

1. ऑंगबर्न एवं निमकॉक के अनुसार, "उद्विकास एक निश्चित दिशा में होने वाला परिवर्तन मात्र है।"
2. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "उद्विकास परिवर्तन का एक क्रम है जो बदलने वाले पदार्थ की प्रकृति से सम्बन्धित अंकों की विविधता को स्पष्ट करता है, जिसके अन्तर्गत पदार्थ में छिपी शक्तियाँ वास्तविक रूप धारण करती है।"
3. स्पेन्सर के अनुसार, "उद्विकास किसी पदार्थ की वह समन्वित गति है जिससे वह अपेक्षाकृत अधिक अनिश्चित असम्बद्ध एकरूपता से निश्चित सम्बद्ध विजातीयता में परिवर्तित होता है।"

डार्विन के अनुसार उद्विकास की प्रक्रिया के समय जीव को कई स्तरों से होकर गुज़रना पड़ता है। डार्विन ने यह अनुभव किया है कि कम भिन्नता वाले जीवों से अनेक प्रकार के भिन्नता रखने वाले जीवों का विकास हुआ। इस प्रकार विभिन्नीकरण की प्रक्रिया

प्राणिशास्त्रीय उद्विकास की जड़ है।

परिवर्तन समाज की आन्तरिक शक्तियों के विकास के कारण होता है। समाज में ही वे आधारभूत क्षमताएँ विद्यमान होती हैं जो प्रस्फुटित एवं विकसित होती रहती हैं और इन्हीं के कारण समाज में परिवर्तन होता रहता है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, “परिवर्तन स्वयं पदार्थ में निहित शक्तियों की कार्यशीलता के कारण होता है।” गुम्पलेविज तथा औपनहीमर ने सामाजिक उद्विकास को विभिन्न समाजों के बीच अस्तित्व के लिये संघर्ष की प्रक्रिया के माध्यम से स्पष्ट किया है। इस भाँति, उनके लिये वे ही समाज के स्पर्लप और प्रकार स्थायित्व प्राप्त कर सके जो संघर्ष में स्वयं को शक्तिशाली व सफल सिद्ध कर सके। परन्तु सामाजिक उद्विकास जैविक उद्विकास की भाँति सरल प्रक्रिया नहीं है।

सामाजिक उद्विकास की विशेषताएँ :

सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. प्रत्येक सामाजिक संस्था एवं समिति का सूक्ष्म निरीक्षण करने पर उसमें आन्तरिक वृद्धि अर्थात् उद्विकास की प्रक्रिया देखी जा सकती है।
2. यह उद्विकास सरल से जटिल की ओर होता है। अर्थात् अपने प्रारम्भ स्तर पर समाज सरल था। किन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता गया उसमें क्रमशः जटिलता आती जाती है।
3. उद्विकास की प्रक्रिया निरन्तर होती रहती है।
4. सामाजिक उद्विकास सामाजिक परिवर्तन का ही स्पर्लप है।
5. सामाजिक उद्विकास किसी की इच्छा अथवा अनिच्छा पर आश्रित नहीं है।
6. उद्विकास का कोई लक्ष्य नहीं होता है।

इस प्रकार, उद्विकास की इस प्रक्रिया को समाज की हर समिति, संस्था तथा सांस्कृतिक इकाई में स्पष्ट देखा जा सकता है। धर्म, कला, परिवार, आर्थिक जीवन, समाज, संस्कृति और सभ्यता सभी में उद्विकास पाया जाता है। स्पेन्सर, सोरोकिन, ऑगस्ट कॉम्ट, ममफोर्ड, पेरेटो तथा एंगेल्स आदि विद्वानों ने उद्विकासवादी सिद्धान्त का समर्थन किया है।

सामाजिक उद्विकास का समाजशास्त्रियों ने विभिन्न चरणों का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार मानव समाज, सभ्यता एवं संस्कृति के उद्विकास को एक सामान्य क्रमिक

योजना में दिखाया जा सकता है। ऑर्गस्ट कॉम्प्ट के अनुसार सभ्यता एवं सामाजिक विकास के क्षेत्र का तीन तार्किक स्तरों में विभक्त किया गया है जो निम्न है—

NOTES

1. धार्मिक अवस्था
2. तात्त्विक अवस्था
3. वैज्ञानिक अवस्था

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम :

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक अभिगम का विकास मुख्यतः उद्विकासवादी, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक परिप्रेक्षणों की सीमाओं को दूर करने के प्रयास के परिणामस्वरूप किया गया है। उद्विकास एवं ऐतिहासिक अभिगमों में ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के लिये काल्पनिक, अप्रमाणित एवं अव्यवस्थित तथ्यों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता रहा है। इस पर समाजशास्त्रियों ने यह विचार किया कि अगर हम काल्पनिक तथ्यों का सहारा लेकर अपने अध्ययन करते रहें, तो हम इस विषय (समाजशास्त्र) को कभी वैज्ञानिक नहीं बना पायेगे। अतः अनुसंधान के एक ऐसे अभिगम का विकास किया गया। जिसमें काल्पनिक तथ्यों पर आधारित अध्ययन न करके वास्तविक तथ्यों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है। इस अभिगम को प्रकार्यवाद के नाम से भी जाना जाता है। इस अभिगम द्वारा किसी इकाई का विश्लेषण उसकी संरचना एवं प्रकार्य के आधार पर किया जाता है।

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम का अर्थ :

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम इस आधारभूत मान्यता पर आधारित है कि समाज या सामाजिक संरचना का प्रत्येक अंग व इकाई समाज या संरचना को बनाये रखने के लिये निश्चित योगदान प्रदान करती है। समग्रता को बनाये रखने में योगदान देने के कारण इकाईयाँ अपरिहार्य एवं अनिवार्य हैं। अर्थात् समंग्र के विभिन्न अंगों की सामाजिक क्रियाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं।

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम द्वारा सामाजिक इकाई के प्रकार्य को जानने का प्रयास किया जाता है। इस अभिगम का प्रयोग अनेक रूपों में भी किया जाता है। उदाहणार्थ, मैलिनोब्स्की ने व्यक्तिवादी प्रकार्यवाद, रैडकिलफ ब्राउन ने संरचनात्मक—प्रकार्यवाद तथा दुर्खीम ने सामाजिक प्रकार्यवाद प्रस्तावित किया।

डेविड ने संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम को एक सिद्धान्त माना है तथा इसे समाजशास्त्र में अन्य पद्धतियों एवं सिद्धान्तों से अलग करने का प्रयास किया है। होमन्स ने संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम को एक पद्धति कहा है, जबकि इंकलिस ने इसे एक दृष्टिकोण माना है। इनके अनुसार संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम समाज को परस्पर सम्बन्धित इकाइयों के रूप में देखने का प्रयास करता है न कि व्यक्तियों या समूहों के रूप में।

समाजशास्त्रियों में दुर्खीम, मर्टन तथा पारसन्स के नाम इस अभिगम के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। ग्रामीण समाज का अध्ययन करने वाले अधिकांश भारतीय समाजशास्त्रियों ने इसी उपागम को अपनाया है। इसमें एस०सी० दुबे तथा एम०एन० श्रीनिवास प्रमुख हैं। नातेदारी, विवाह एवं परिवार पर हुए अध्ययनों में भी इस अभिगम को अपनाया गया है।

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम की उपयोगिता :

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम की उपयोगिता इसके निम्नलिखित गुणों द्वारा की जा सकती है—

1. वास्तविक समाजशास्त्रीय अभिगम :

किंग्सले डेविस ने केवल संरचनात्मक—प्रकार्यवाद को वास्तविक समाजशास्त्रीय अभिगम माना है। यह अभिगम अन्य अभिगमों की अपेक्षा सामाजिक घटनाओं के यथार्थ अध्ययन के लिए अधिक उपयोगी है।

2. सामाजिक एकता एवं सन्तुलन के अध्ययन में सहायक :

प्रत्येक इकाई की अपनी एक विशिष्ट भूमिका या कार्य होता है और सभी इकाइयाँ परस्पर सम्बन्धित हैं तथा समग्र को बनाये रखने में अपना योगदान देती है। अतः यह अभिगम सामाजिक एकता एवं इकाई में पाये जाने वाले सन्तुलन के अध्ययन में उपयोगी है।

3. इकाइयों के परस्पर सम्बन्धों के अध्ययन में सहायक :

यह अभिगम विभिन्न सामाजिक इकाइयों के बीच पाये जाने वाले प्रकार्यात्मक सम्बन्धों का अध्ययन करने में भी सहायक है। क्योंकि किसी एक इकाई में परिवर्तन अन्य इकाइयों एवं सम्पूर्ण व्यवस्था को प्रभावित करता है, अतः यह कुछ सीमा तक परिवर्तनों के अध्ययनों में भी सहायता दी है।

4. वैज्ञानिक अध्ययनों में सहायक :

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम में काल्पनिक तथ्यों का सहारा न लेकर वास्तविक तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। अतः इस पद्धति ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान बनाने में सहायक ही है।

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम की सीमाएँ :

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं—

1. एकपक्षीय अध्ययन :

संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम समाज के विभिन्न अंगों में पाई जाने वाली एकता तथा सन्तुलन के अध्ययन में बल देने के कारण एकपक्षीय है।

2. तुलनात्मक अध्ययनों में अनुपयोगी :

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक अभिगम तुलनात्मक अध्ययनों में सहायक नहीं है क्योंकि इसमें हम सामाजिक इंकाई के परस्पर अंगों एवं उनके कार्यों का ही अध्ययन कर सकते हैं।

3. उपयोगितावादी व्याख्या :

यह अभिगम वास्तविक अर्थ में एक पद्धति न होकर केवल मात्र उपयोगितावादी व्याख्या है जो कि समाज में पाई जाने वाली प्रत्येक वस्तु एवं घटना को उपयोगी बताकर प्रस्तुत करती है।

4. परिवर्तन के अध्ययन के अनुपयुक्त :

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक अभिगम सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में अधिक सहायक नहीं है। क्योंकि इसमें सन्तुलन को सामान्य घटना तथा परिवर्तन को असामान्य घटना माना जाता है।

5. उपकल्पनाओं का परीक्षण कठिन

यह अभिगम उपकल्पनाओं के परीक्षण में अधिक सहायक नहीं है। अतः इसकी सामाजिक अनुसंधान में उपयोगिता अत्यन्त सीमित है।

6. रूढ़िवादी विचारधारा :

अनेक समाजशास्त्रियों ने संरचनात्मक—प्रकार्यात्मक अभिगम को एक रूढ़िवादी विचारधारा बताया है। क्योंकि इसमें प्रत्येक अंग को समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के

लिये प्रकार्यात्मक एवं अपरिहार्य माना जाता है।

संरचनात्मक अभिगम :

संरचनात्मक अभिगम का अर्थ सामाजिक संरचना के आधार पर आदिम अथवा आधुनिक समाजों का विश्लेषण करना है। अर्थात् संरचनावाद से अभिप्राय उस अभिगम से है जो सामाजिक संरचना को आधार बिन्दु मानकर समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर बल देता है। सामाजिक संरचना का निर्माण अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्तियों में विकसित सामाजिक सम्बन्ध द्वारा होता है। संरचनावादी समाजशास्त्रियों तथा अनेक विद्वानों ने सामाजिक संरचना को व्यक्तियों अथवा सामाजिक समूहों में पाये जाने वाले स्थायी सम्बन्धों अथवा संस्थागत प्रबन्धों के रूप में देखने का प्रयास किया है। यह अभिगम जीवशास्त्रीय नियमों पर आधारित है। जीवशास्त्रीय नियमों की तरह ही समूह, समुदाय, समाज आदि की सामाजिक संरचना को समझने हेतु इसके निर्माणक तत्वों, अंगों का ज्ञान होना अनिवार्य है। इसीलिये यह अभिगम सामाजिक संरचना एवं इसको बनाने वाले तत्वों या इकाइयों के अध्ययन पर बल देता है। संरचनावादी अभिगम के निम्नलिखित तीन प्रमुख रूप प्रचलित हैं—

1. वृहत्-संरचनावादी अभिगम :

यह अभिगम आकार, विभेदीकरण, विजातीयता, असमता तथा इसी प्रकार के संरचनात्मक लक्षणों एवं संरचना के एकीकरण की दृष्टि से उनके परिणामों से सम्बन्धित है।

2. सूक्ष्म-संरचनावादी अभिगम :

संरचनात्मक अभिगम अन्तःक्रियाओं से निर्मित संरचना के अध्ययन पर बल देता है।

3. मस्तिष्कवादी-संरचनावाद :

संरचनात्मक अभिगम संरचना को अनुवांशिक मासिक क्रियाओं द्वारा निर्मित मानता है।

क्लायड लैवी-स्ट्रास्स एक प्रमुख संरचनावादी विद्वान् माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी चार प्रमुख कृतियाँ हैं— 1949ई0 में प्रकाशित दि एलिमेंट्री स्ट्रक्चरस ऑफ किनशिप, 1958 ई0 में प्रकाशित संरचनात्मक मानवशास्त्र, 1962 ई0 में प्रकाशित जंगली मस्तिष्क तथा 1963 में प्रकाशित मिथ्कों का संरचनात्मक अध्ययन। इसमें हमें सामाजिक संरचना की अवधारणा तथा संरचनावाद के सम्बन्ध में उनके विचारों की विस्तृत विवेचना मिलती है।

लैवी-स्ट्रास्स के अनुसार संरचनाओं में तीन प्रमुख बातें निहित होती हैं—

1. संरचनाएँ अन्तर्सम्बन्धित तत्वों से बनती है, जिसमें से किसी एक में अन्य सभी तत्वों को प्रभावित किये बिना परिवर्तन नहीं हो सकता। अन्य शब्दों में संरचनाएँ व्यवस्थाएँ होती हैं।
2. संरचनाएँ रूपान्तरणों को सम्मिलित करती है जिनसे भिन्न सामग्री में समानता की व्याख्या की जा सकती है।
3. संरचनाएँ यह भविष्यवाणी सम्भव बनाती है कि किस प्रकार एक तत्व में रूपान्तरण सम्पूर्ण मॉडल को बदल देगा।

प्रकार्यवादियों की भाँति लैवी-स्ट्रास्स ने संरचना तथा व्यवस्था से स्पष्ट भेद नहीं किया है। इन्हें अन्तर्बदल शब्दों के रूप में प्रयोग किया गया है। इसके लिये लैवी स्ट्रास्स की आलोचना भी की गई है। लैवी स्ट्रास्स के विचारों की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है—

लैवी-स्ट्रास्स ने 'संरचना' तथा 'व्यवस्था' में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया है।

2. लैवी-स्ट्रास्स ने अपने विचारों की पुष्टि हेतु जो आनुभविक तथ्य प्रस्तुत किये हैं वे पूर्णतः विश्वासोत्पादक नहीं हैं।
3. लैवी-स्ट्रास्स का अवेतन संरचनावादी गुणों का निरूपण अधिक स्पष्ट नहीं है।
4. गिडिन्स लैवी-स्ट्रास्स की संरचना की अवधारणा में 'संरचितता' की धारणा के अभाव के कारण आलोचना की है।

लेकिन लैवी-स्ट्रास्स का संरचनावादी विद्वानों में एक प्रमुख स्थान है। उनके अनुसार संरचनावादी अध्ययन महत्वपूर्ण स्तरों अथवा अंगों को पृथक करने में ही सहायक नहीं होते, अपितु उनसे ऐसे प्रारूपों का निर्माण करना भी सम्भव हो जाता है जो तुलनात्मक अध्ययनों में सहायक है।

सांस्कृतिक अभिगम :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार के अध्ययन में सांस्कृतिक अभिगम का भी प्रयोग किया गया है। जो इन संस्थाओं को संस्कृति के एक अंग तथा अन्य अंगों से जुड़े हुए रूप में देखने का प्रयास करता है। मजूमदार ने संस्कृति को ही मनुष्य का जीवन माना है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृति के माध्यम से करते हैं। संस्कृति में धर्म, कला, विज्ञान,

विश्वास, रीति-रिवाज़, रहन-सहन तथा मानव द्वारा निर्मित सभी वस्तुएँ सम्मिलित की जाती है। यही वस्तुएँ उसका सांस्कृतिक पर्यावरण कहलाती हैं। भौगोलिक पर्यावरण के विपरीत सांस्कृतिक पर्यावरण मानव निर्मित होता है। प्रत्येक समाज की अपनी सामूहिक जीवन प्रणाली होती है।

उसकी कला, विश्वास, ज्ञान आदि विशेष ढंग के होते हैं जिसे हम सामान्य अर्थों में संस्कृति के अन्तर्गत रख सकते हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों के दो प्रमुख रूपों में बाँटा जा सकता है। (भौतिक एवं अभौतिक) दोनों का सम्बन्ध संस्कृति से ही है। संस्कृति में हम भौतिक तथा अभौतिक के सम्पूर्ण योग को सम्मिलित करते हैं। यह, उपलब्धियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। संस्कृतिक अभिगम संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अभिगम को चुनौती देता है तथा इस तथ्य को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है कि नातेदारी को समझने हेतु इनके समाज के अन्य पहलुओं से सम्बन्धों को समझना अनिवार्य है। नातेदारी सम्बन्धों को सांस्कृतिक प्रतीक अर्थ प्रदान करते हैं। अतः इन प्रतीकों को समाज के धर्म, नृजातीयता, वर्ग व्यवस्था, राष्ट्रीयता, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध इत्यादि के समझने के बाद ही नातेदारी के विभिन्न रूपों को समझा जा सकता है।

विवाह को भी सांस्कृतिक आधार पर समझने का ही यह परिणाम है कि इसकी कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। किसी भी मनुष्य में विवाह को समझने हेतु उस समुदाय की सांस्कृतिक मान्यताओं एवं प्रतीकों को समझना अनिवार्य है। इन्हीं से विवाह के अर्थ का ही पता नहीं चलेगा, अपितु यह समझने में भी सहायता मिलेगी कि विवाह अन्य संस्थाओं से किस प्रकार से सम्बन्धित एवं प्रभावित है। इसलिये विवाह संस्कृति द्वारा मान्य समागम माना गया है। भारतीय संस्कृति में विवाह की संस्कारिक मान्यता अनिवार्य है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि सांस्कृतिक अभिगम नातेदारी, विवाह एवं परिवार को संस्कृति की अन्य इकाईयों से सम्बन्धित मानकर अध्ययन करने पर बल देने के साथ-साथ अध्ययन में सांस्कृतिक मूल्यों, सांस्कृतिक प्रतीकों एवं संस्कारिक मान्यताओं का प्राथमिकता देने पर भी बल देता है।

लैंगिकवादी परिप्रेक्ष्य :

लैंगिकवादी परिप्रेक्ष्य संस्कृति के आधार पर रत्नी-पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों को

समझने पर बल देता है। लैंगिकवादी परिप्रेक्ष्य द्वारा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों, उनकी तुलनात्मक सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका को समझने का प्रयास किया गया है। रॉबिन फॉक्स ने नातेदारी एवं विवाह के अध्ययन के लिये ऐसे निम्नलिखित चार मूलभूत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है जो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्व के हैं—

1. स्त्रियां बच्चों को जन्म देती हैं।
2. पुरुष स्त्रियों को गर्भ धारण करते हैं।
3. प्रायः पुरुष ही नियन्त्रण करते हैं।
4. प्राथमिक नातेदार आपस में संगमन नहीं करते।

प्रथम दो सिद्धान्त सामान्य परन्तु अपरिहार्य हैं, तीसरा सिद्धान्त थोड़ा विवादास्पद है क्योंकि कुछ समाजों में स्त्रियों का भी नियन्त्रण होता है। चौथे सिद्धान्त के अन्तर्गत प्राथमिक नातेदारों में परस्पर यौन सम्बन्ध की स्थापना को वर्जित करने का प्रयास किया जाता है।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में पुरुष प्रधानता को अधिकांश पितृवंशीय समाजों में स्वीकार किया गया है। इसीलिये पितृवंशीय परिवार न केवल पितृसत्तात्मक ही होते हैं, अपितु पितृस्थानीय भी होते हैं। ऐसे परिवारों में वंश पिता की पीढ़ी से चलता है। विवाहोपरान्त वधु वर के माता-पिता के निवास स्थान पर आ जाती है। चूँकि स्त्री पत्नी के रूप में दूसरे परिवार से आई है। इसलिये उसका वर के परिवार में निम्न स्थान है। यद्यपि आज यह मान्यता अस्वीकार की जाने लगी है।

वर्तमान समय में लैंगिक असमानता सम्बन्धी अध्ययन किसी एक राष्ट्र की सीमाओं के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली समस्याओं में सम्मिलित विषय नहीं रहा है, वरन् यह एक अन्तर्राष्ट्रीय विषय हो गया। क्योंकि आधुनिक समय में विश्व का आकार लघु होता जा रहा है। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण की प्रक्रियाओं ने सभी राष्ट्रों की समस्याओं को एकबद्ध कर दिया है। अतः समाजशास्त्र जैसे विषय में लैंगिक परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी असमानता एवं समस्याओं का अध्ययन महत्वपूर्ण हो गया है। यह विषय इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि शारीरिक संरचना के आधार पर पुरुष तथा स्त्री के मध्य विद्यमान प्राकृतिक असमानताओं को तो स्वीकार किया जा सकता है; परन्तु सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आधार पुरुष तथा स्त्री में मतभेद करने का कोई औचित्य नहीं है। ऐसा करना मानवता तथा मानव अधिकारों की धारणा के

नितान्त विपरीत है। जबकि कानून का शासन भी लिंग पर आधारित भेदभाव को स्वीकार नहीं करता।

लैंगिक भेदभाव यौन पृथक्करण में प्रकट होता है। लड़कों और लड़कियों के जरा से बड़ा होते ही अलग—अलग क्षेत्र हो जाते हैं। उनके खेलना अलग है, पढ़ाई के विषय भी अलग हैं, संस्कार भी अलग हैं और जीवन की पूरी तैयारी अलग—अलग होती है। लड़के को घर से बाहर का जीव माना जाता है। जबकि लड़की का जीवन उसके घर की चहारदीवारी है, वह रसोई, घर का रख—रखाव, बच्चों का लालन—पालन आदि सामाजिक कृत करती है, और यदि वह घर की परिधि के बाहर है तो वह स्त्री नहीं है, या तो वह वेश्या या फिर देवी।

लैंगिक भेदभाव प्रत्येक पितृसत्तात्मक परिवार का यह सामान्य लक्षण है। इसके अनुसार पुरुष की प्रधानता और स्त्री के अवमूल्यन को स्वीकार किया जाता है। भारतीय समाज में लिंग भेद—भाव का रूप अत्यन्त कठोर है। स्त्री का जन्म ही अपने में अभिशाप माना जाता रहा है। यह मान्यता है कि पुत्र मुकितदाता बुढ़ापे का सहारा और घर की पूँजी है, जबकि पुत्री का जन्म एक दायित्व और कर्ज़ है, स्त्री जन्म से ही लिंग भेदभाव के लिये उत्तरदायी है।

इस प्रकार लिंग असमता वर्तमान समय में जीवन का सार्वभौमिक तत्व बन गया है। विश्व के अनेक समाजों में विशेषकर विकासशील देशों में, स्त्रियों के साथ समाज में प्रचलित विभिन्न कानूनों, रुद्धिगत नियमों के आधार पर विभेद किया जाता है तथा उनको पुरुषों के समान राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया जाता है। लैंगिक असमता को स्त्री—पुरुष विभेद के सामाजिक संगठन अथवा स्त्री—पुरुष के मध्य असमान सम्बन्धों की व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है।



परीक्षा उपयोगी विस्तृत उत्तरीय प्रश्न :

महत्वपूर्ण प्रश्न

NOTES

1. समाजशास्त्रीय अधिगम किसे कहते हैं ऐतिहासिक के अभिगम पर प्रकाश डालिये?
2. ऐतिहासिक अभिगम क्या है? इसकी उपयोगिता एवं सीमाओं की विवेचना कीजिये?
3. समाजिक उद्विकासीय अभिगम क्या है? इसकी विशेषताओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये?
4. संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अभिगम को समझाते हुए, इसकी उपयोगिता का वर्णन कीजिये?
5. संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अभिगम का अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट करते हुए इसकी सीमाओं की विवेचना कीजिये?
6. लैबी-स्ट्रास्स के संरचनात्मक अभिगम को समझाते हुए इनके विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये?
7. संरचनात्मक अभिगम को विस्तारपूर्वक समझाइये?
8. सांस्कृतिक अभिगम को समझाते हुए इसकी उपयोगिता का वर्णन कीजिये?
9. लिंग परिप्रेक्ष्य के बारे में आप क्या जानते हैं? विवेचना कीजिये?
10. अभिगम को समझाते हुए इनके प्रकारों का वर्णन कीजिये?



इकाई—तृतीय

नातेदारी शब्दावली

नातेदारी एवं संगठनात्मक सिद्धान्त के रूप में उत्तराधिकारी का नियम :

NOTES

प्रत्येक व्यक्ति का एकाधिक व्यक्तियों से सम्बन्ध होता है। इन सम्बन्धों में सबसे महत्वपूर्ण सम्बन्ध उन व्यक्तियों के साथ होता है जो उसके या तो रक्त—सम्बन्धी हैं या विवाह सम्बन्धी। इन महत्वपूर्ण सम्बन्धों से जुड़े समूह को नातेदार कहते हैं तथा सम्बन्धों की इस शृंखला को नातेदारी व्यवस्था। नातेदारी व्यवस्था से जुड़े व्यक्ति एक दूसरे से अनुभव करते हैं। इसलिये वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि समाज के व्यवहार, आदर्श और सांस्कृतिक मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते रहें। इसी उद्देश्य को लेकर समाज ने नातेदारी को व्यक्ति के जीवन की दो महत्वपूर्ण घटनाओं से विशेष रूप से जोड़ा है—

1. विवाह

2. उत्तराधिकार

इस संदर्भ में कहा गया है कि सामाजिक—सांस्कृतिक निरन्तरता बनाये रखने में नातेदारी की भूमिका परम महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से नातेदारी में उत्तराधिकारी, उत्तराधिकारी समूह, समष्टि समूहों तथा समस्त्रोतीय पीढ़ी, निर्गमित समूह तथा स्थानीय समूहों का महत्वपूर्ण स्थान है।

उत्तराधिकार में स्व अर्जित सम्पत्ति तथा पूर्वजों की सम्पत्ति दोनों को सम्मिलित किया जाता है। पहले इन दोनों प्रकार की सम्पत्ति का हस्तान्तरण मिताक्षरा पद्धति के अनुसार होता था। इस पद्धति के अनुसार सम्पत्ति के भागीदारों का निर्धारण पिता से पुत्र, पुत्र के पुत्र, पुत्र के पुत्र के पुत्र (पड़पोते), विधवा पत्नी, पुत्रियाँ, पुत्रियों के पुत्र, माँ, पिता, भाई, भाइयों के पुत्र इत्यादि निर्धारित क्रम में होता है। इस पद्धति में उत्तराधिकार का आधार पितृवंशीय परम्परा का सिद्धान्त है। उत्तराधिकार का सम्बन्ध वंशानुक्रम से है।

वंशानुक्रम से अभिप्राय एक सामान्य ऐतिहासिक और वास्तविक पूर्वज से सम्बन्धित समस्त रक्त सम्बन्धी वंशजों के एक समूह से है। वंशानुक्रम का वर्गीकरण निम्न प्रकार से समझा जा सकता है। तभी हम नातेदारी के संगठनात्मक सिद्धान्त को उत्तराधिकारी के नियम के रूप में समझ सकते हैं। प्रत्येक समाज की व्यवस्था मुख्यतः सत्ता के दो प्रमुख आधारों पर

केन्द्रित होती है—

1. पितृवंशीय वंशानुक्रम
2. मातृवंशीय वंशानुक्रम
3. उभयवर्ती वंशानुक्रम
4. दोहरा वंशानुक्रम

NOTES

पितृसत्तात्मक :

वंशानुक्रम प्रायः दो शब्दों पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक से बना है। जो समूह पितृसत्तात्मक होते हैं उनमें वंश का निर्धारण पिता या पुरुष पक्ष की ओर से होता है। पितृसत्तात्मक के अन्तर्गत पुरुष उनके भाई और उनकी सन्तानें सम्मिलित की जाती हैं। इससे अभिप्राय पूर्वज पंक्ति के आधार पर सम्पर्क वाले वंशानुक्रम से है। पूर्वज के बेटे, उसके बेटे के बेटों, उसके बेटों के बेटे के क्रम के आधार पर पितृसत्तात्मक वंशानुक्रम का निर्धारण होता है। हिन्दू समाजों में पितृसत्तात्मक परम्परा पाई जाती है। पितृसत्तात्मक परम्परा में पिता की पुत्री एवं पुत्र दोनों वंशानुक्रम सदस्य होते हैं। लेकिन पिता के वंश और उत्तराधिकारी के रूप में केवल पुत्र को ही पितृसत्तात्मक सदस्य माना जाता है। पितृसत्तात्मक में बच्चे पिता के कुल को गृहण करते हैं तथा सत्ता पुरुष पक्ष में निहित रहती हैं। इस प्रकार के समाज में पुरुषों को वंश परम्परा पिता से पुत्र को मिलती है।

मातृसत्तात्मक :

जो समूह या वंशानुक्रमों मातृसत्तात्मक होते हैं, उनमें वंश या उत्तराधिकारी का निर्धारण माता पक्ष की ओर से होता है।

मातृवंशीय वंशानुक्रमों में स्त्री उसकी बहनें एवं उनके बच्चे सम्मिलित होते हैं। मातृवंशीय एवं मातृसत्तात्मक परिवार सभी समाजों में नहीं पाये जाते हैं। ये अधिकार कुछ जनजातियों में पाये जाते हैं। नायर, गारो एवं खासी जनजातियों में मातृवंशीय परम्परा पायी जाती है। पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परम्पराओं में वंशानुक्रम का निर्धारण लिंग के आधार पर होता है। मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक दोनों में सत्ता या वंशानुक्रम का निर्धारण एक परम्परा के अनुसार होता है। मातृसत्तात्मक परम्परा में माँ की पुत्री एवं पुत्र दोनों मातृवंशीय होते हैं लेकिन केवल पुत्री ही अपनी महिला सन्तान के माध्यम से माँ का वंश आगे धलती है।

इस प्रकार के समाजों में स्त्रियों का उच्च स्थान होता है तथा परिवार में भी उच्च स्थान होता है। आर्थिक व्यवस्था, सम्पत्ति एवं अन्य सामाजिक विषयों पर निर्णय लेने का वास्तविक आधार स्त्रियों के पास होता है। ऐसे समाजों में विवाह उपरान्त लड़की अपने माता के निवास में रहती है। साथ में उसका पति भी रहता है। यहाँ माता की मुख्य भूमिका रहती है। मॉर्गन ने एक अन्य उत्तरी अमेरिका को चोकताव नामक जनजाति का भी अध्ययन किया है। जिसमें एक व्यक्ति अपने पिता की बहन के लड़के के लिये सम्बन्धों का वह पद प्रयोग करता है जो वह अपने पिता एवं पिता के भाईयों के लिये करता है। पितृवंशीय एवं मातृवंशीय समूह सरलतम् प्रकृति से लेकर जटिलतम् प्रकृति के हो सकते हैं। मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक दोनों वंशों का विशेष महत्व है।

दुहरा :

दुहरा वंशानुक्रम में दो प्रकार के सामाजिक समूहों अथवा श्रेणियों का सह अस्तित्व पाया जाता है। जिनमें से एक पितृवंशीय तथा दूसरा मातृवंशीय वंशानुक्रम पर आधारित होता है। इसमें व्यक्ति अपने पिता के पितृसत्तात्मक समूह तथा माता के मातृसत्तात्मक समूह दोनों से आबद्ध होता है। इस प्रकार के वंशानुक्रम में विभिन्न प्रयोजनों हेतु वंश परम्परा निर्धारित की जाती है। अफ्रीका में इस प्रकार के वंशानुक्रम का प्रचलन है। यहाँ व्यक्ति के लिये पितृवंशीय वंशानुक्रम एवं मातृवंशीय वंशानुक्रम दोनों का महत्व होता है। इसमें यह भी हो सकता है कि एक वंश परम्परा में चल सम्पत्ति तथा दूसरी में अचल सम्पत्ति सम्मिलित है। पितृवंशीय वंशानुक्रम तथा मातृवंशीय के आधार पर होते हैं। अफ्रीका में प्रत्येक व्यक्ति को उत्तराधिकार हेतु अनेक आनुष्ठानिक कार्यकलाप करने पड़ते हैं।

सम्पूरक प्रशासन :

सम्पूरक वंशगत सम्बन्ध या सम्पूरक प्रशासन का अर्थ एक माता-पिता की सन्तान होने के तथ्य से है। फोर्ट्स जैसे-विद्वानों ने एक पक्षीय वंशानुक्रम तथा वंशागत सम्बन्ध में अन्तर करने का प्रयास किया है। माता-पिता एवं सन्तान में सम्बन्ध दो प्रकार के हो सकते हैं। जैविक सम्बन्ध अथवा आनुष्ठानिक सम्बन्ध। जैविक सम्बन्ध में संतान के पिता वास्तविक होते हैं। आनुष्ठानिक सम्बन्ध में पिता ज्ञान नहीं होता तथा पिता एवं सन्तान में सम्बन्ध आनुष्ठानिक क्रिया पर निर्धारित होता है। लेकिन आनुष्ठानिक सम्बन्ध भी संस्कृति द्वारा मान्य एवं वैध होता

है। सम्पूर्ण सम्बन्ध से तात्पर्य उन सम्बन्धों से है जो प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। परन्तु उनकी मान्यता प्राप्त होती है तथा ये सम्बन्ध अनैतिक होते हैं। सम्पूरक वंशागत सम्बन्ध ज्ञात करना आवश्यक है। नातेदारी व्यवस्था में उन सम्बन्धों को भी सम्मिलित किया जाता है। जो मुख्य नातेदारी में सम्मिलित नहीं होते हैं।

वंशानुक्रम में सर्वप्रथम व्यक्ति विशेष के पूर्वज आते हैं। इसके पश्चात् वंशज होते हैं। पूर्वजों एवं वंशजों से वंशानुक्रम समूह बनता है। सम्पूरक प्रशासन का सम्बन्ध लिंग पर आधारित वंशानुक्रम अथवा वक्र या वैकल्पिक व्यवस्था पर आधारित हो सकते हैं। समानान्तर वंशानुक्रम में लिंग के आधार पर वंशानुक्रम निर्धारित होता है। जिसमें सदस्यता पुरुषों द्वारा पुत्रों को और स्त्रियों द्वारा पुत्रियों को मिलती है। वंशानुक्रम का वैकल्पिक रूप भी अपेक्षाकृत प्रचलित है।

स्थानीय समूह :

जनजातियों एवं पूर्व शिक्षित समाजों में नातेदारी समूह सीमित प्रकृति के नहीं होते। वे सामाजिक समूहों की एक श्रृंखला का निर्माण करते हैं। जो घरेलू संगठन समाजीकरण की प्रक्रिया, सम्पत्ति के हस्तान्तरण, उत्तराधिकारी, धार्मिक गतिविधियों, राजनीतिक सम्बन्धों पर प्रभुत्व रखते हैं। चूँकि ये समूह सामाजिक जीवन के अनेक पक्षों को प्रभावित करते हैं। इन समूहों में वंशानुक्रम समूह, समष्टि समूह, निगमित समूह, तथा स्थानीय समूहों का महत्वपूर्ण स्थान है।

उत्तराधिकारी के संदर्भ में कई बार स्थानीय समूह का भी प्रयोग किया जाता है जिसमें मुख्य रूप से गोत्रों के उप-विभाजित समूहों को सम्मिलित किया जाता है। जनजातीय सामाजिक संगठन में गोत्र सामान्यतया उप-गोत्रों में विभाजित होते हैं। जिसमें उत्तराधिकारी अथवा वंशावली की दृष्टि से कम से कम पाँच पीढ़ियों की इकाइयाँ सम्मिलित हो सकती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में इस प्रकार के स्थानीय समूह व्यक्ति के पिता, दादा, पुत्र तथा पड़पोतों द्वारा निर्मित हो सकते हैं। अथवा मातृसत्तात्मक समाजों में सत्री, उसकी माता उसकी पुत्री तथा उसकी पुत्री की पुत्रियों द्वारा निर्मित हो सकते हैं। स्थानीय वंशानुक्रम समूह प्रकार्यात्मक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार निगमित समूहों का भी विशेष रथान है।



इकाई—तृतीय

1. नातेदारी के संगठनात्मक सिद्धान्त के रूप में उत्तराधिकारी नियम की व्याख्या कीजिए?
2. परिवार का अर्थ समझाते हुए उनके सत्ता के आधार पर प्रकारों का वर्णन कीजिए?
3. पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक व्यवस्था की व्याख्या कीजिए?
4. पितृसत्तात्मक की अवधारणा को समझाते हुए पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक में अन्तर स्पष्ट कीजिए?
5. दुहरा एवं समस्त्रोतीय पीढ़ी सम्पूरक प्रशासन की स्पष्ट रूप से व्याख्या कीजिए?
6. उत्तराधिकारी समूह का अर्थ स्पष्ट कीजिये तथा स्थानीय समूह की व्याख्या कीजिए?
7. नातेदारी शब्दावली के अर्थ स्पष्ट करते हुए उनके सम्पूरक प्रशासन को समझाइए?
8. मातृसत्तात्मक को परिभाषित कीजिये? भारत में इस प्रकार के परिवारों की विवेचना कीजिए?

NOTES



मैत्रीपूर्ण विवाह सिद्धान्त सममित विनिमय विवाह सिद्धान्त :

नातेदारी, विवाह एवं परिवार के समाजशास्त्र में सम्बन्ध का सिद्धान्त, विवाह सम्बन्धी नियमों से आबद्ध है। यह सिद्धान्त वंशानुक्रम समूहों अथवा नातेदार समूहों को पुनरावृत्ति विवाह अथवा आदेशात्मक विवाह के नियम द्वारा जोड़कर उनमें सामाजिक एकीकरण बढ़ाने पर बल देता है तथा विभिन्न पीढ़ियों में एक दूसरे से विवाह सम्बन्ध बनाये रखता है। रॉबिन फॉक्स के अनुसार “नातेदारी सिद्धान्त में इसका अर्थ समाज के उस दृष्टिकोण से है जो वंशानुक्रम समूहों में वैवाहिक अन्तर्क्रियाओं पर सामाजिक एकीकरण एवं समूह परिभाषा के आधार पर बल देता है।”

रोजर क्रिसिंग के अनुसार, “सह सम्बन्ध या मैत्रीपूर्ण विवाह सम्बन्ध, वह व्यवस्था है जिसके द्वारा वंशानुक्रम समूह अथवा अन्य नातेदार समूह आदेशात्मक या पुनरावृत्ति विवाह के नियम द्वारा जुड़े हैं ताकि समूह एक दूसरे के साथ अनेक पीढ़ियों में विवाह सम्बन्धों में बँधे रहे।”

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नातेदारी के सह सम्बन्ध सिद्धान्त में वंशानुक्रम अथवा नातेदारी समूहों में विवाह सम्बन्ध को मजबूत करने हेतु ऐसे सम्बन्धों की पुनरावृत्ति की जाती है। यह सामान्यतया जीवनसाथी के विनिमय अथवा आदान-प्रदान के माध्यम से किया जाता है। लॉवी के अनुसार विनिमय की प्रक्रिया निम्नलिखित दो रूपों में क्रियाशील होती है—

1. सममित विनिमय विवाह सम्बन्ध
2. असममित विनिमय विवाह सम्बन्ध

सममित विनिमय विवाह सम्बन्ध :

सममित विनिमय विवाह सम्बन्ध को सम्बन्ध की वह व्यवस्था माना जाता है जिसमें नातेदार समूहों में प्रत्यक्ष रूप से पत्नियों का विनिमय किया जाता है। जिससे नातेदार समूहों में प्रत्यक्ष रूप से पत्नियों का विनिमय किया जाता है। ताकि पत्नी प्रदान करने वाले उसी समय पत्नी प्राप्त करने वाले भी होते हैं। अर्थात् इस प्रकार का विनिमय इस नियम पर आधारित है कि आप हमें स्त्रियाँ देंगे। यह विनिमय नातेदारी समूहों में सन्तुलन रथापित करने

का कार्य करता है। इस प्रकार के विनिमय को 'सरल' अथवा 'प्राथमिक' विनिमय भी कहा है। पितृवंशीय समाजों में इस प्रकार का विनिमय अधिक पाया जाता है। इसे निम्नलिखित चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है—

NOTES

इस प्रकार का विनिमय कम संख्या वाले समूहों अथवा थोड़ी जनसंख्या वाले समूहों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। यह एक सरल विनिमय है जिसमें एक व्यक्ति बहन अथवा पुत्रियाँ बदलता है। यह अत्यन्त सीधा एवं स्पष्ट है तथा दो जनजातीय समूहों के लिये सरल एवं स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करता है। नाइजीरिया के 'टिव' लोगों में इस प्रकार का सन्तुलित विनिमय पाया जाता है। टिव पितृवंशीय है तथा उनमें बहन का विनिमय दो वंशों में विनिमय का एक अंग माना जाता है।

असमित विनिमय विवाह सम्बन्ध :

यह सन्तुलित अथवा प्रत्यक्ष विनिमय का विपरीत रूप है। इस प्रकार के सहबन्ध सिद्धान्त में दो नातेदार समूह अप्रत्यक्ष रूप से पत्नियों का विनिमय करते हैं। इसमें एक पुरुष उस समूह को अपनी पुत्री पत्नी के रूप में नहीं देता है जिससे उसे पत्नी प्राप्त हुई थी। मातृवंशीय समाजों में इस प्रकार का विनिमय अधिक पाया जाता है। इस प्रकार के विनिमय में पत्नी प्रदान करने वाले, पत्नी प्राप्त करने वाले नहीं हो सकते। इसका अर्थ यह है कि एक नातेदार समूह स्त्रियाँ उस समूह को नहीं दे सकता, जिससे उसने स्त्रियाँ ली हैं।

असन्तुलित विनिमय का एक अन्य स्वरूप भी है। इसे निम्नलिखित चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

इस प्रकार के विनिमय में प्रत्येक पीढ़ी में स्त्रियाँ एक ओर ही जाती हैं। यह विनिमय अधिक विस्तारित होता है तथा उन जनजातियों में पाया जाता है जिनकी संख्या यथेष्ठ होती है। बड़े एवं जटिल समाजों में भी इसका प्रचलन सम्भव है। जब प्रत्यक्ष विनिमय सम्भव नहीं होता तो व्यक्ति पत्नी प्राप्त करने हेतु अपनी माँ के समूह में जा सकता है तथा अपने मामा इत्यादि से सहायता माँग सकता है। वह उस समूह में भी जा सकता है, जहाँ उसके पिता की बहनों का विवाह हुआ है। उनसे वह एक स्त्री माँग सकता है। दूसरे शब्दों में वह मामा की लड़की या बुआ की लड़की की माँग कर सकता है। यह अधिमान्य विवाह के विकास की ओर एक कदम हो सकता है।

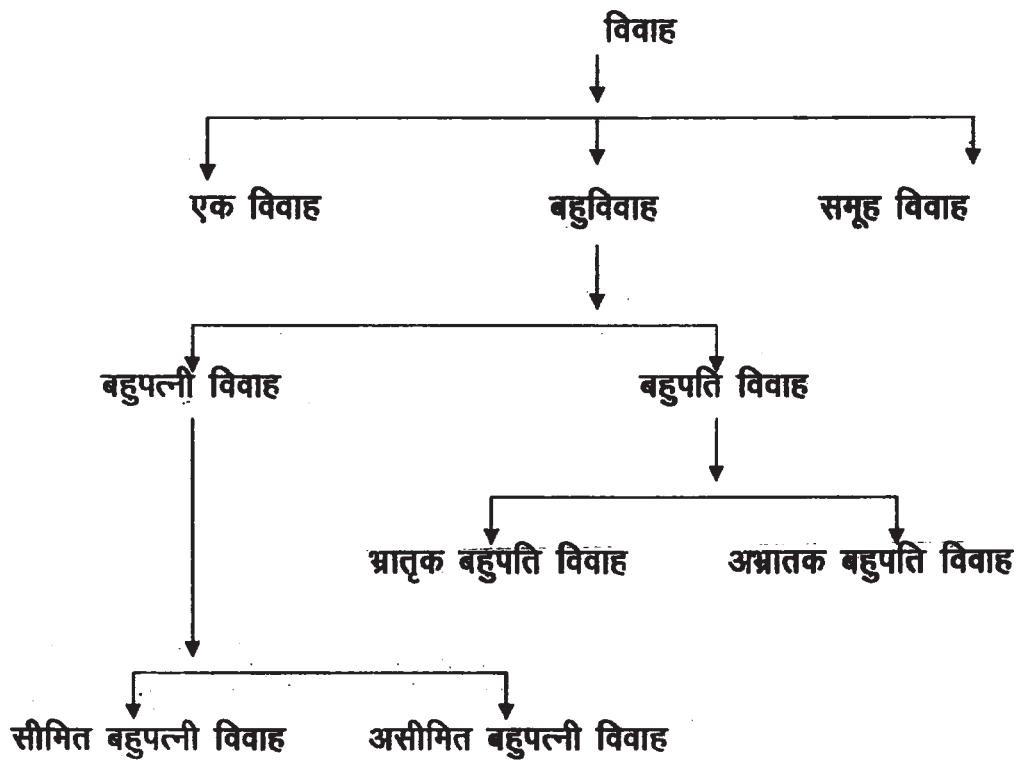
(क) निर्देशात्मक एवं अभिमानक विवाह :

जनजातीय समाज की सामाजिक संरचना में विवाह के अनुपम नियमों एवं मान्यताओं द्वारा जनजातियाँ अपनी सामाजिक संरचना में निरन्तरता एवं स्थायित्व बनाये रखने का प्रयास करती हैं। निर्देशात्मक एवं अभिमानक विवाह का सम्बन्ध विवाह अर्थात् जीवन साथी के चयन हेतु कुछ निश्चित नातेदारों को प्राथमिकता देने से है। वैवाहिक सम्बन्धों की दृष्टि से जनजातीय समाजों में ही नहीं वरन् सभ्य हिन्दू समाजों में भी विवाह व्यक्तिगत मामला न होकर सामाजिक जरूरत के दृष्टिकोण पर आधारित है। यह दो परिवारों के मिलन का आधार है जिसके कारण सम्बन्ध निश्चित और ज्यादा मजबूत हो जाते हैं। विवाह के पश्चात् एक स्त्री-पुरुष को पति-पत्नी तथा अनेक ऐसे रिश्ते-नाते भी प्राप्त होते हैं जो उनके सुख-दुख के साथी होते हैं। यह नातेदारी जीवन व्यतीत करने में, संघर्षों से मुकाबला करने में तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सहयोगी होते हैं। साधारणतः जब किसी व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति से विवाह करने का विशेषाधिकार प्राप्त होता है या सामाजिक दृष्टि से उस विवाह का होना उचित माना जाता है और अधिक पसन्द किया जाता है तो ऐसे विवाह को अधिमान्य विवाह कहा जाता है। इसे अधिमान्य विवाह इस दृष्टि से भी मान सकते हैं कि विवाह के मामले या जीवनसाथी के चुनाव के मामले में कुछ व्यक्तियों को अन्यों की तुलना में प्रमुखता या अधिमान्यता दी जाती है। भारतीय जनजातियों में भी अधिमान्य विवाह प्रचलित है। इनके प्रमुख निम्नलिखित हैं जैसे— ममेरे तथा फुफेरे भाई—बहनों का विवाह, चचेरे एवं मौसेरे भाई—बहनों का विवाह, पति—भ्राता विवाह, साली विवाह अन्य अभिमानक विवाह हैं।

लैवी-स्ट्रास्स ने इस विवाह का प्रमुख उद्देश्य जनजाति की आन्तरिक एकता को सुदृढ़ करना है। होमन्स एवं अनेक विद्वानों का मत है कि जनजातियाँ एकीकरण जैसी अच्छाई को शायद ही समझ पाती हो, अतः उनमें इस प्रकार का विवाह सामाजिक कारणों से ही मान्य हुआ होगा। जनजातीय लोगों की यह मान्यता है कि परिचित समूह में ही विवाह ठीक होते हैं। अर्थात् सामान्य भाषा, संस्कृति, सामाजिक प्रथाएँ एवं रीति-रिवाज होने के नाते इस प्रकार के विवाह अधिक सफल होते हैं। अशिक्षा, अन्धविश्वास, धार्मिक रुद्धिवादिता एवं प्रत्येक जनजाति की आत्मनिर्भरता आदि कुछ ऐसे कारण हैं जिन्होंने अभिमानक विवाह को जन्म दिया है।

विवाह के प्रमुख प्रकार :

NOTES



(ख) एक विवाह प्रथा :

श्री बुकेनोविक के अनुसार उस विवाह को एक विवाह प्रथा कहते हैं जिसमें न केवल एक पुरुष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक ही पति हो बल्कि दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष अन्य विवाह न करें। एक विवाह प्रथा में एक समय में एक पुरुष एक ही स्त्री से विवाह करता है। इसके कई रूप हैं। पहला रूप वह है जिसमें एक पुरुष का एक स्त्री से विवाह होता है और किसी एक पक्ष की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष विवाह नहीं करता। दूसरा रूप वह है जिसमें एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है, किन्तु रखैल रूप में कई स्त्रियाँ रखती हैं। तीसरा रूप वह है जिसमें तलाक या मृत्यु हो जाने पर दूसरा विवाह कर लिया जाता है। एक और बहु विवाह का सम्बन्ध समाज से है। इस सम्बन्ध में लूसी मेयर लिखते हैं, "एक विवाह और बहुविवाह शब्द विवाह या समाज के लिये प्रयुक्त होते हैं, व्यक्तियों के लिये नहीं।

हिन्दू समाज में एक विवाह प्रथा को आदर्श माना गया है। भारतीय धर्मशास्त्रों में दाम्पति शब्द का प्रयोग भी घर के दो संयुक्त रवामी पति पत्नी के लिये ही हुआ है। हिन्दू

विवाह का एक उद्देश्य धार्मिक कार्यों की पूर्ति करना भी है।

वेस्टर्नमार्क ने एक—विवाह को ही एक विवाह का आदि स्वरूप माना है। मैलिनोर्वस्की की भी मान्यता है कि, “एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है।” वर्तमान में हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 के द्वारा एक विवाह को आवश्यक कर दिया गया है। शिक्षा एवं सभ्यता के विकास के साथ—साथ एक विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है।

एक विवाह के कारण—एक विवाह प्रथा के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. एकाधिक पति अथवा पत्नी होने पर परिवार में अनुकूलन की समस्या पैदा होती है तथा मानसिक तनावों में वृद्धि होती है।
2. कई समाजों में कन्या मूल्य की प्रथा है। एकाधिक विवाह करने पर कन्या मूल्य जुटाना बहुत कठिन होता है। अतः एक विवाह प्रथा का ही पालन किया जाता है।
3. उन समाजों में भी जहाँ बहुपति अथवा बहुपत्नी विवाह प्रचलित है। सामान्यतः तो एक विवाह ही अधिक पाया जाता है। क्योंकि एकाधिक जीवन साथी का खर्च उठाना कठिन होता है।

एक विवाह के लाभ :

एक विवाह से निर्मित परिवार अपेक्षतया अधिक स्थायी होते हैं। एक विवाही परिवार के बच्चों का लालन—पालन, सामाजीकरण एवं शिक्षा का कार्य उचित प्रकार से सम्पन्न होता है। एक विवाही परिवारों में संघर्षों के अभाव में मानसिक तनाव कम पाया जाता है। एक विवाही परिवारों में संतानों की संख्या कम होती है, अतः परिवार छोटा सुखी होता है।

एक विवाह के दोष :

एक विवाही के कारण कभी—कभी यौन अनैतिकता में वृद्धि होती है। यह भ्रष्टाचार बढ़ता है। यौन अष्टराधों में वृद्धि होती है। स्त्रियों का शोषण अधिक होता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न परिवार में एकाधिपत्य की प्रवृत्ति पायी जाती है। एक विवाह की इन कमियों की अपेक्षा इससे होने वाले लाभ अधिक हैं।

बहुविवाह प्रथा :

जब एकाधिक पुरुष अथवा स्त्रियाँ विवाह बन्धन में बंधते हैं तो ऐसे विवाह को बहु—विवाह कहते हैं। बहु—विवाह के प्रमुख रूप पाये जाते हैं— बहुपति विवाह, बहुपत्नी विवाह

आदि।

(क.) बहुपति विवाह :

बहुपति विवाह को डॉ० रिवर्स लिखते हैं, "एक स्त्री का कई पतियों के साथ विवाह, बहुपति विवाह कहलाता है।

NOTES

डॉ० कापाडिया के अनुसार, "बहुपति विवाह एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसमें एक स्त्री के समय में एक से अधिक पति होते हैं या जिसमें सब भाई एक पत्नी या पत्नियों का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।"

अतः स्पष्ट है कि बहुपति विवाह में एक स्त्री का एकाधिक पुरुषों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है। यह प्रथा भारत में प्राचीन काल से प्रचलित रही है। यद्यपि यह प्रचलन सीमित मात्रा में ही रहा है। वैदिक साहित्य में बहुपति प्रथा की सख्त मनाही थी। द्वोपर्दी का विवाह बहुपति विवाह था लेकिन इसे नियम न मानकर एक असाधारण घटना माना जाता है। डॉ० सक्सेना के भातानुसार दक्षिण में कुछ प्राग-द्रविड़ सांस्कृतिक समूहों में भी बहुपतित्व की प्रथा रही है। यह प्रथा कई जनजातियों टोडा एवं कोटा, लद्दाखी बोटा, तियान एवं झारावा, नागपुर की संथाल, मध्य भारत की उराव आदि जनजाति में प्रचलित रही है, किन्तु वर्तमान में धीरे-धीरे इस प्रकार के विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है।

बहुपति विवाह के भी दो रूप पाये जाते हैं—

1. भ्रातृक बहुपति विवाह
2. अभ्रातृक बहुपति विवाह

भ्रातृक बहुपति विवाह :

जब दो या अधिक भाई मिलकर किसी एक स्त्री से विवाह करते हैं अथवा सबसे बड़ा भाई किसी एक स्त्री से विवाह करता है और अन्य भाई स्वतः ही उस स्त्री के पति माने जाते हैं तो इस प्रकार का विवाह भ्रातृक बहुपति विवाह कहते लाता हैं। नीलगिरि पर्वत के टोडा लोगों में भ्रातृक बहुपति विवाह का प्रचलन है। डॉरिवर्स का कहना है कि कभी-कभी सगे भाइयों के स्थान पर संगोत्री भाई मिलकर भी एक स्त्री से विवाह कर लेते हैं।

2. अभ्रातृक बहुपति विवाह :

इस प्रकार के विवाह में पति के परस्पर भाई नहीं होते हैं। स्त्री बारी-बारी से समान

अवधि के लिये प्रत्येक पति के पास रहती है। वह प्रथा टोड़ा तथा नायरो में पायी जाती है।

(ख) बहुपत्नी विवाह :

बहुविवाह का एक रूप बहुपत्नी विवाह भी है। जिसमें एक पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता है। कापाड़िया के मतानुसार यह प्रथा भारत वर्ष में वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित रही है। आल्टेकर के अनुसार बहुपत्नी प्रथा धनी, शासक एवं अभिजात वर्ग के लोगों में सामान्य थी। बहुपत्नी विवाह के भी दो रूप पाये जाते हैं— सीमित एवं असीमित। सीमित बहुपत्नी विवाह में एक स्त्री के मरने पर ही दूसरी स्त्री से विवाह किया जाता है। असीमित बहुपत्नित्व में स्त्री के बाँझ होने की स्थिति में अथवा अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये पुरुष एकाधिक विवाह करता है।

बहुपत्नी विवाह के अनेक कारण हैं जैसे— पुत्र प्राप्ति के लिये, सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये, लिंग असमानता, कामवासना एवं यौन अनुभव के लिये, साली विवाह, देवर विवाह, बच्चों की देख-रेख के लिये आदि कारण हैं। जिससे बहुपत्नी विवाह को बढ़ावा मिला। जनजाति समूहों में भी अलग-अलग कारण बताये गये हैं जिसके कारण इस प्रथा का प्रचलन बढ़ा है।

वेस्टरमार्क ने बहुपत्नी विवाह के छः प्रमुख कारण बतलाये हैं।

1. कृषि प्रधान समाज में अतिरिक्त कार्यों की पूर्ति के लिये अनेक पत्नियाँ रखने का प्रचलन था।
2. यौन सम्बन्धों में विचित्रता तथा विविधता के लिये इस प्रथा का जन्म हुआ।
3. पुत्र प्राप्ति की कामना से इस प्रथा को बढ़ावा मिला।
4. कुछ समूहों में अधिक पत्नियाँ रखना प्रतिष्ठा समझा जाता है। इस कारण लोगों ने अधिक प्रतिष्ठा पाने के लिये अनेक पत्नियों को रखा।
5. समाज में निरन्तर युद्ध होने के कारण पुरुषों की संख्या में कमी हो गयी जिसने बहुपत्नी विवाह प्रथा को प्रोत्साहन दिया।
6. उच्च जातियों, विशेषकर, कुलीन ब्राह्मणों की संख्या बहुत कम थी। परन्तु अकुलीन लोग कुलीन ब्राह्मणों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में गौरव समझते थे तथा दहेज देकर विवाह होता था। फलस्वरूप कुलीन ब्राह्मण बार-बार दहेज के लोभ में अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करते थे।

(ग) वैवाहिक कार्य सम्पादन :

सांस्कृतिक मानवशास्त्र में नातेदारी, विवाह एवं परिवार विषय पर सर्वाधिक अध्ययन किये गये हैं, इसका प्रमुख कारण नातेदारी द्वारा आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सम्बन्धों पर पड़ने वाले प्रभाव के कारण है। विवाह केवल एक सामाजिक सांस्कृतिक संस्था ही नहीं है। अपितु इसका सम्पादन एक निश्चित कार्यप्रणाली के अन्तर्गत किया जाता है, जिसमें कई बार सौदेबाजी जैसे सम्बन्ध भी निहित होते हैं। जनजातीय एवं पूर्व आधुनिक समाजों में स्त्रियों को अत्याधिक मूल्यवान वस्तुएँ माना जाता है। इनका विनिमय निकटाभिगमन व्यभिचार के विरुद्ध निषेध के नियम द्वारा संचालित होता है। लैवी स्ट्रास्स ने सन्तुलित एवं असन्तुलित विनिमय के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के विनिमय का भी उल्लेख किया है जिसे वह सामान्यीकृत विनिमय कहते हैं।

विवाह के निम्न सर्वमान्य कार्य बताये गये हैं। जैसे – यौन सम्बन्धों का नियमन, परिवार का निर्माण, प्रजनन, बच्चों का पालन–पोषण एवं समाजीकरण, लिंग पर आधारित श्रम विभाजन इत्यादि। उनके अतिरिक्त इसका एक अन्य कार्य विभिन्न नातेदार समूहों में आर्थिक विनिमय भी है जो इन समूहों को एक सूत्र में बाँधे रखने का कार्य करता है। आर्थिक विनिमय वस्तुओं अथवा मूल्यवान सेवाओं के विनिमय के रूप में हो सकता है। जो विवाह कार्य सम्पादन के पक्ष को स्पष्ट करता है।

कार्य सम्पादन की दृष्टि से विवाह विनिमय के दो विशिष्ट प्रकार हैं— वधु मूल्य तथा दहेज। वधु मूल्य का अर्थ व्यक्ति (वर) अथवा उसके नातेदारों द्वारा जिस लड़की से विवाह किया जा रहा है उसे या उसके नातेदारों के धन या वस्तुओं का भुगतान है। यही भुगतान दो नातेदार समूहों को जोड़ता है तथा जिन समाजों में धन—दौलत सम्बन्धी स्तरीकरण पाया जाता है, उनमें वधु मूल्य का प्रचलन पाया जाता है। वधु मूल्य की तुलना में यूरोप में दहेज प्रथा का कम प्रचलन है। दहेज वह धनराशि अथवा वस्तुएँ हैं जो नवविवाहित वधु के माता-पिता अथवा नातेदार विवाह के समय वर या उसके नातेदारों को देते हैं। भारत में अधिकांशतया दहेज का प्रचलन पाया जाता है। विवाह के समय एक दूसरे पक्ष की मेहमान नवाज़ी पर किये जाने वाले व्यय को भी दिवाह के कार्य विवरण का प्रमुख पहलू कहा गया है।

कुछ जनजातियों में तिवाह कार्य सम्पादन के रूप में सास—संसुर की सेवा का भी

महत्वपूर्ण स्थान है। यदि वधु मूल्य चुका पाने में असमर्थ है तो वह सास-ससुर की सेवा कर इसे आशिंक रूप से चुकाने का प्रयास करता है तथा सास-ससुर द्वारा सन्तुष्ट होने पर दामाद होने का हकदार हो जाता है। इस प्रकार विवाह सम्बन्धी कार्य सम्पादन अनेक रूपों में प्रचलित है तथा सदैव सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा प्रभावित होता है।



परीक्षाप्रयोगी विस्तृत उत्तरीय प्रश्न :

1. विवाह सम्बन्ध से आप क्या समझते हैं? सममित एवं असमित विवाह सम्बन्ध की विवेचना कीजिये?
2. सममित एवं असमित विनिमय विवाह सम्बन्ध को समझाते हुए, अन्तर स्पष्ट कीजिये
3. विवाह की अवधारणा स्पष्ट करते हुए? निर्देशात्मक एवं अभिमानक विवाह को समझाइये?
4. विवाह के प्रमुख स्पर्शों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये?
5. एक विवाह एवं बहुविवाह प्रथा किसे कहते हैं? एक विवाह प्रथा के प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिये?
6. बहुविवाह प्रथा का अर्थ स्पष्ट करते हुए इनके स्वरूपों का वर्णन कीजिये?
7. बहुपत्नी विवाह प्रथा एवं बहुपति विवाह प्रथा के बारे में आप क्या जानते हैं? स्पष्ट कीजिये?
8. बहुपति विवाह क्या है? जनजातियों में बहुपति विवाह के प्रचलन के कारण बताइये?
9. वैवाहिक कार्य सम्पादन पर एक विस्तृत लेख लिखिये?
10. विवाह क्या है? इनके प्रकारों को स्पष्ट कीजिये?



निवास स्थल सम्बन्धी नियम :

निवास के नियम कोई साधारण नियम मात्र ही नहीं है, अपितु इनमें अनेक विचार एवं मुद्दे निहित होते हैं। उदाहरणार्थ—इन नियमों का सम्बन्ध इससे भी है कि स्वाप्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा? पुत्र होगा अथवा पुत्री? यदि पुत्रों को प्राप्त होगा तो क्या सभी पुत्रों को या केवल जेष्ठ पुत्र को? उत्तराधिकारी के न होने पर क्या होगा? वंश परम्परा किसके नाम से चलेग? विवाहोपरान्त पुरुष स्त्री की पति—पत्नी के रूप में पारस्परिक पारिवारिक या सामाजिक स्थिति क्या है? इन मुद्दों एवं अन्य इसी प्रकार के मुद्दों को ध्यान में रखकर समाजशास्त्रियों ने अनेक समाजों के नियमों का अध्ययन किया है।

निवास का अभिप्राय उस स्थान से है जहाँ स्त्री—पुरुष विवाहोपरान्त पति—पत्नी के रूप में रहकर परिवार का निर्माण करते हैं, बच्चों को जन्म देते हैं तथा उनका पालन पोषण करते हैं। रॉबिन फॉक्स के शब्दों में निवास का अर्थ, “उस व्यवहार सम्बन्धी प्रथागत नियमों अथवा प्रतिमानों से है जिनका सम्बन्ध उस स्थान से है जहाँ दम्पति विवाह के बाद रहता है। सामान्यतः इन्हें ‘स्थानीय’ प्रत्यय लगाकर व्यक्त किया जाता है, जैसे— पति स्थानीय जिसका अर्थ विवाहोपरान्त स्त्री का पति के समूह के साथ निवास करना है”। निवास के प्रचलित स्वरूप अनेक हैं लेकिन हम यहाँ प्रमुख तीन स्वरूपों का अध्ययन करेंगे।

(क) पुरुष प्रधान निवास :

निवास को वर्गीकृत करने का यह सर्वाधिक प्रचलित एवं सबसे पुराना तरीका है। इस प्रमुख प्रधान समाज में पुरुष प्रधान निवास का अधिक महत्व है। पुरुष प्रधान निवास के अन्तर्गत पितृस्थानीय निवास एवं पति स्थानीय निवास का अध्ययन करते हैं। यह पुरुष सत्तात्मक समाजों का प्रमुख लक्षण है। पुरुष प्रधान निवास उसे कहते हैं जिसमें विवाहोपरान्त या विवाह से पहले पुरुषों के निवास स्थान पर रहते हैं अर्थात् जहाँ पुरुषों का अधिपत्य होता है पितृस्थानीय निवास का अभिप्राय उस व्यवस्था से है जिनमें विवाहोपरान्त दम्पति पति के माता—पिता के साथ रहते हैं। यह विश्व में सर्वाधिक प्रचलित निवास का प्रकार है। जिसका अर्थ विवाहोपरान्त पति—पत्नी का पति के पितृवंशीय नातेदार के साथ अथवा उनके समीप रहना है। पितृस्थानीय निवास जैरा कि नाम से रूपरूप है, निवास का एक नियम है जिसमें

विवाहोपरान्त लड़की—लड़के के परिवार में आकर निवास करने लगती है अर्थात् वह अपने माता—पिता का निवास छोड़कर पितृ पक्ष के निवास में आ जाती है। पितृसत्तात्मक समाजों में अधिकांशता निवास का यही नियम प्रचलित है। इसी प्रकार पति स्थानीय निवास होता है अर्थात् इस प्रकार का निवास पितृस्थानीय निवास के समानान्तर ही होता है। परन्तु इसमें पितृवंशीय नातेदार समूह अनुपस्थित होते हैं। इसमें विवाहोपरान्त पति—पत्नी का निवास पति के समूह में होता है। पितृस्थानीय निवास के नियम के साथ पितृवंश का नियम भी जुड़ा हुआ है। पितृस्थानीय निवास पितृसत्तात्मक समाजों का प्रमुख लक्षण है। पितृस्थानीय निवास पति की उच्च स्थिति का घोतक है तथा इस स्थिति में पति पक्ष का एकल प्रधानता का भाव निहित होता है। आज भी इस प्रकार के निवास का प्रचलन अधिक है।

स्त्री प्रधान निवास :

स्त्री प्रधान निवास के अन्तर्गत मातृस्थानीय निवास तथा पत्नीस्थानीय निवास आते हैं। स्त्री प्रधान निवास इस प्रकार के निवास में स्त्री का आधिपत्य होता है। मातृवंशीय परिवारों में पाया जाने वाला यह सामान्य निवास माना जाता है। जिसमें विवाहोपरान्त पति—पत्नी, पत्नी के मातृवंशीय नातेदारों के साथ अथवा उनके समीप रहते हैं। मातृवंशीय या मातृस्थानीय निवास लोगों में पाया जाता है जिनमें सत्ता स्त्रियों अर्थात् माताओं या पत्नी के पास होता है। मातृस्थानीय निवास तथा पत्नी स्थानीय निवास मातृ एवं पत्नी सत्तात्मक समाजों का प्रमुख लक्षण माना जाता है। मातृ स्थानीय निवास पत्नी की उच्च स्थिति का घोतक है। इसमें मातृपक्ष की एकल प्रधानता का भाव निहित है। मातृस्थानीय तथा पत्नी स्थानीय निवास में स्त्री (माता, पत्नी) की राय प्रमुख होती है। परिवार में इनकी भूमिका अधिक होती है। स्त्री प्रधान निवास कम मात्रा में पाये जाते हैं। आदिवासी सामाजिक संरचनाओं के अध्ययन में निवासीय प्रकारों की ये व्यवस्थाएँ प्राचीन ही नहीं अपितु प्रचलित एवं अधिक जानी—पहचानी है। स्त्री प्रधान निवास में सम्पूर्ण कार्य स्त्री करती है।

नंव स्थानीय निवास :

पितृस्थानीय एवं मातृस्थानीय निवास से भिन्न अमेरिका एवं पश्चिमी समाजों में अधिकांशतया नवस्थानीय निवासों का प्रचलन है। यह आज निवास का एक प्रमुख नियम माना जाता है। इस प्रकार के निवास में विवाहोपरान्त पति—पत्नी दोनों अपने—अपने परिवारों से

अलग होकर किसी नये स्थान पर गृहस्थी बनाकर रहने लगते हैं। यह नया स्थान पति के पिता के निवास के नजदीक अथवा पत्नी के पिता के निवास के नजदीक हो सकता है अथवा यह भी सम्भव है। ऐसा निवास दोनों पक्षों के निवासों से काफी दूर अथवा अन्य किसी गाँव या नगर में हो कि नवस्थानीय परिवार परम्परागत संयुक्त परिवार जो कि पितृवंशीय एवं मातृवंशीय परम्पराओं पर आधारित होते हैं, के विघटन का परिणाम माने जाते हैं तथा इनमें व्यक्तिवाद की भावना प्रमुख होती है। इस प्रकार के परिवार को निम्नांकित चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

(ख) वंशावली विधि :

वंशावली अन्य पद्धतियों की तरह ही एक अनुसंधान पद्धति या विधि है। जिसके माध्यम से आँकड़े संकलित किये जा सकते हैं। यह पद्धति मानवशास्त्र में अधिक प्रचलित है तथा नातेदारी, विवाह एवं परिवार के अध्ययनों में अत्यन्त उपयोगी एवं प्रभावशाली हैं। इस विधि को डब्ल्यू०एच०आर० रिवर्स के नाम से जोड़ा जाता है। यह पद्धति अधिक लाभदायक एवं सहायक सिद्ध हुई है। क्योंकि सरल होने के साथ-साथ यह अध्ययन किये जाने वाले व्यक्तियों की सामाजिक संरचना तथा अन्य संस्थाओं के बारे में विस्तृत सूचनाएँ संकलन करने में सहायक है।

रिवर्स के अनुसार, "वंशावली विधि अमूर्त समस्याओं का अन्वेषण विशुद्ध वास्तविक आधार पर सम्भव बना देती है। इसके प्रयोग से व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित नियमों, जिनका निर्माण सम्भवतः उन्होंने स्वयं नहीं किया है तथा जो निश्चित रूप से अधिक जटिल सभ्यता द्वारा प्रशिक्षित मस्तिष्क की दृष्टि से स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित नहीं है, का निर्माण भी किया जा सकता है।"

वंशावली द्वारा अध्ययन एक विशेष प्रकार के चार्ट अथवा सारणी द्वारा किया जाता है। जिसे वंशावली चार्ट या वंशावली सारणी कहते हैं। सामाजिक संरचना, गोत्र संगठन तथा मातृ एवं पितृवंशीय परिवारों के अध्ययन के लिये वंशावली सारणी का प्रयोग किया जाता है। इस सारणी में सम्बन्धों को विशेष प्रकार से लिखा जाता है। जैसे—पुरुषों के नाम बड़े अक्षरों से तथा स्त्रियों के नाम छोटे अक्षरों में लिखते हैं। इसी प्रकार सामाजिक विभाजन में अथवा गाँव आदि के नाम लाल रंग से लिखे जाते हैं तथा आगर इसे छपवाना है तो इन्हें इटैलिक्स में

लिखा जाता है।

आज वंशावलियों के नाम इत्यादि लिखने की अपेक्षा कुछ प्रतीकों अथवा चिन्हों का प्रयोग किया जाता है—

Δ पुरुषों के लिए

Ο स्त्रियों के लिए

Ø अपरिचित के लिए

Ø बचपन में मृत्यु के लिए

वंशावली विधि द्वारा सूचना संकलन करने की प्रक्रिया :

वंशावली पद्धति द्वारा किसी भाषा का कम ज्ञान होने पर भी सरलता से सूचना एकत्रित की जा सकती है। वंशावली प्रक्रिया को निम्नलिखित चरणों में बाँटा जा सकता है—

1. सर्वप्रथम सूचना दाता से उसकी माता का नाम पूछना चाहिये। उसके पश्चात् उस व्यक्ति का नाम जिससे उसने विवाह किया। तदपश्चात् यह पूछना चाहिये की वह अपने माता-पिता को किस प्रकार पुकारता है।
2. उपरोक्त जानकारी के पश्चात् उससे माता-पिता का नाम लेकर उनके बच्चों के बारे में पूछना चाहिये जैसे कि उनके कितने बच्चे हैं? उनके क्या नाम हैं? कितने लड़के हैं कितनी लड़कियाँ हैं? अगला प्रश्न यह होना चाहिये कि सूचनादाता उन्हें कैसे सम्बोधित करता है। इतनी सूचना किसी प्रारम्भिक अर्थात् एकाकी परिवार की वंशावली के लिये अनिवार्य है। स्थानीय शब्दों का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अनुसंधानकर्ता अन्य नातेदारों से सम्बन्धित सूचना एकत्रित करता है।
3. तदपश्चात् सूचनादाता से विवाह सम्बन्धी सूचना एकत्र करता है। जिससे कि माता-पिता, पति-पत्नी, बच्चों के लिये स्थानीय शब्दों का ज्ञान हो सके तथा इसके पश्चात् अनुसंधानकर्ता को इसके आगे की सूचना एकत्रित करनी चाहिये। उपरोक्त बातों को अनुसंधानकर्ता को ध्यानपूर्वक पूछना चाहिये। क्योंकि हो सकता है वह इन शब्दों द्वारा अन्य नातेदारों को भी सम्बोधित करता हो।
4. माता-पिता, पति-पत्नी, बच्चों के बारे में प्रचलित शब्दों का पता लगा लेने के पश्चात् जटिल से जटिल वंशावलियाँ बनाई जाती हैं उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसके पश्चात् सूचनादाता से यह पूछा जाना चाहिये कि क्या उसके पिता की कोई अन्य पत्नी है और अगर है तो उनके कितने बच्चे हैं?

5. इसके पश्चात् इसी प्रकार से माता-पिता के माता-पिता अर्थात् दादा-दादी के बारे में इसी प्रकार से सूचना संकलित की जा सकती है। इस प्रकार, जितनी पीढ़ियों की सूचना मिल सकती है, उतनी ही विस्तृत वंशावली बनाई जा सकती है।

NOTES

वंशावली विधि द्वारा सूचना संकलन करने की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि नातेदारी के अध्ययनों में सरल शब्द जैसे— पिता, भाई, बहन इत्यादि का अर्थ पहले से मानकर आगे नहीं बढ़ा जा सकता क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के नातेदारों से सम्बन्धों को प्रकट करने के लिये भिन्न-भिन्न रूपों में किया जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि स्थानीय शब्दों को ध्यानपूर्वक समझे।

वंशावली विधि के प्रयोग में सावधानियाँ :

वंशावली विधि को अपनाने में मुख्य रूप से निम्नलिखित सावधानियाँ अपनानी चाहिये—

1. वंशावली पद्धति द्वारा अध्ययन करते समय अभीष्ट जानकारी वृद्ध व्यक्तियों से लेनी चाहिये।
2. उत्तरदाताओं को पूरी तरह विश्वास में लेकर उनसे प्रश्न पूछना चाहिये। जिससे वह हमें सही जानकारी दे और उन्हें ये न लगे कि सूचना देने से उनका किसी प्रकार का अहित होगा।
3. यदि वंश में किसी बच्चे को गोद लिया गया है तो उस तथ्य की जानकारी अवश्य प्राप्त करें।
4. अनेक समुदायों में कुछ वर्जित नाम होते हैं। उनका भी ध्यान दें।
5. कभी-कभी वंशावली जटिल हो जाती है उसे स्वाभाविक रूप से समझना चाहिये।

(ग) परिवार :

परिवार मानव समाज की पूर्णतः मौलिक एवं सार्वभौमिक इकाई है। परिवार एक प्राथमिक समूह है। हम में से प्रत्येक व्यक्ति परिवार का सदस्य है। मनुष्य की आवश्यकताओं को प्रायः दो भागों में बाँटा गया है— 1. प्राथमिक आवश्यकताएँ 2. द्वितीयक आवश्यकताएँ इन दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ परिवार में पूरी होती हैं। समाज के अस्तित्व व निरन्तरता के लिये आवश्यक कार्य प्रजनन तथा समाजीकरण के आधार पर करता है। मानव समाज में परिवार की स्थिति केन्द्रीय होती है। परिवार मनुष्य की जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा

अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति पूरे उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यनिष्ठा से करता है।

'परिवार', आंग्ल भाषा के 'फैमिली' शब्द का रूपान्तर है। यह लैटिन भाषा के 'फैमुलस' शब्द से बना है। 'फैमुलस' का लैटिन भाषा में अर्थ एक ऐसे समूह से है जिसमें सभी सदस्य आ जाते हैं। परिवार को अलग—अलग विद्वानों ने अलग—अलग नाम दिये हैं किसी ने परिवार को समूह तो किसी ने समिति, कुछ ने संस्था तथा कुछ विचारकों ने सामाजिक इकाई के रूप में परिभाषित किया है।

प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

1. ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार— "परिवार पति और पत्नी की सन्तान रहित या सन्तान सहित या। केवल पुरुष या स्त्री की बच्चों सहित, कम या अधिक स्थायी, समिति है।"
2. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एव समूह है, जो पूर्ण तथा निश्चित रूप से सन्तान के जन्म तथा पालन—पोषण की व्यवस्था करने की क्षमता रखता है।"
3. इलियट एवं मैरिल के अनुसार— "परिवार को पति—पत्नी तथा बच्चों की एक जैविक सामाजिक इकाई के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। परिवार एक सामाजिक संस्था भी है और समाज द्वारा मान्य एक ऐसा संगठन है जिसके द्वारा कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है।"

उपरोक्त परिभाषा के आधार पर परिवार को एक समूह, समिति, संस्था तथा सामाजिक इकाई के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसके सदस्य विवाह, रक्त सम्बन्धों या विधिवत् गोद लिये जाने के कारण परस्पर जुड़े होते हैं। उनमें परस्पर स्नेह, सहानुभूति, सेवा और त्याग की भावना पायी जाती है।

परिवार के प्रकार :

परिवार को मुख्यतः पाँच प्रमुख प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है जो निम्नलिखित है—

(अ) सत्ता के आधार पर परिवार के प्रकार— अधिकार के आधार पर परिवार दो प्रकार के होते हैं—

- मातृसत्तात्मक परिवार—जिस परिवार में सत्ता का अधिकार या नियंत्रण माता या पत्नी के हाथ में होता है। मातृसत्तात्मक परिवार कहलाते हैं।
- पितृसत्तात्मक परिवार—ऐसे परिवार जिनमें सत्ता का अधिकार पिता या पुरुष का होता है तथा पिता परिवार का कर्ता होता है। पितृसत्तात्मक परिवार कहलाते हैं। ऐसे परिवारों में वंश नाम पिता से चलता है।

(ब) विवाह के आधार पर परिवार के प्रकार—विवाह के आधार पर परिवार के तीन प्रकार हो सकते हैं—

- एक विवाही परिवार—इस प्रकार के परिवार में एक पुरुष केवल एक ही स्त्री से विवाह करता है। परिवार का यह स्वरूप आज संसार में सर्वाधिक प्रचलित है।
- बहुपत्नी विवाही परिवार—ऐसे परिवार में एक ही समय में एक पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह करता है। हमारे समाज में ऐसे परिवारों का संगठन वैधानिक रूप से समाप्त किया जा चुका है।
- बहुपति विवाही परिवार—इस प्रकार के परिवार में एक स्त्री एक ही समय में अनेक पुरुषों से विवाह कर सकती है।

(स) निवास स्थान के आधार पर परिवार के प्रकार—निवास स्थान के आधार पर भी परिवार तीन प्रकार के होते हैं—

- मातृस्थानीय परिवार—इस प्रकार के परिवार में विवाह के बाद पति स्थायी रूप से पत्नी या पत्नी के परिवार के साथ रहता है।
- पितृस्थानीय परिवार—सामान्यतः तथा पितृस्थानीय परिवार के आधार पर विवाह के पश्चात् पत्नी, पति के यहाँ या पति के परिवार में निवास करती है।
- नवस्थानीय परिवार—इस प्रकार के परिवार में विवाह के पश्चात् नव—दम्पति अपने परिवारों से पृथक् एक नया परिवार बसा लेते हैं।

(द) वंश के आधार पर परिवार के प्रकार—वंश के आधार पर परिवार निम्नलिखित दो प्रकार के होते हैं—

- मातृवंशीय परिवार—इन परिवारों के अन्तर्गत वंश का नाम माता के नाम से चलता है। इरामें वंश, परम्पराएँ, उत्तराधिकार के नियम आदि माता के नाम से ही चलते हैं।

सम्पत्ति पर अधिकार माता के पश्चात् पुत्री को प्राप्त होते हैं।

2. **पितृवंशीय परिवार**—पितृवंशीय परिवार में वंश पिता के नाम पर चलता है तथा ये परिवार पुरुष प्रधान होते हैं। इसमें सम्पत्ति का अधिकार पितम से पुत्र को प्राप्त होता है।

(ग) सदस्यों की संख्या और संरचना के आधार पर परिवार के प्रकार—इनको भी दो श्रेणियों में बँटा गया है—

1. **केन्द्रीय (एकाकी) परिवार**—इस प्रकार के परिवार में सदस्यों की संख्या कम होती है। इस प्रकार के परिवार में पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे आते हैं।
2. **संयुक्त परिवार**—संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं तथा उनका भोजन एक साथ बनता है। इस प्रकार के परिवार में अधिकतर सदस्य एक साथ रहते हैं। संयुक्त परिवार को विस्तृत परिवार भी कहते हैं।

प्राथमिक परिवार :

आज पश्चिमी औद्योगीकृत समाजों में प्राथमिक या एकाकी परिवारों की प्रधानता पाई जाती है। प्राथमिक परिवार को एकाकी परिवार प्रारम्भिक परिवार नाभिक तथा केन्द्रक भी कहा जाता है। प्राथमिक परिवार से अभिप्राय ऐसे गृहस्थ समूह से है जिसमें पति-पत्नी बच्चों रहित अथवा अविवाहित बच्चों सहित रहते हैं। इस प्रकार के परिवार में पति या पत्नी से सम्बन्धित अन्य रिश्तेदार निवास नहीं करते हैं। प्राथमिक परिवार की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. **श्री निवास के अनुसार**— “व्यक्ति, उसकी पत्नी और अविवाहित बच्चों के गृहस्थ समूह हो प्रारम्भिक अथवा एकाकी परिवार कहते हैं।”
2. **लौंगी के अनुसार**, “पति, पत्नी तथा अपरिपक्व आयु के बच्चों से मिलकर बनी एक इकाई है, जो शेष समुदाय से पृथक होती है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्राथमिक या एकाकी परिवार में केवल पति-पत्नी को बच्चों रहित अथवा पति-पत्नी को अविवाहित बच्चों सहित अथवा माता या पिता को अविवाहित बच्चों सहित ही समिलित किया जाता है। प्रायः ऐसे परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है। ऐसे परिवारों का रामाज में अत्याधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

विस्तृत परिवार :

प्रायः संयुक्त एवं विस्तृत परिवार को एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है। फिर भी इन दोनों में थोड़ा अन्तर है। विस्तृत परिवार संयुक्त परिवार से बढ़े होते हैं। विस्तृत परिवार में एक साथ तीन पीढ़ियों के लोग निवास करते हैं, जैसे— दादा—दादी, माता—पिता एवं अविवाहित एवं विवाहित बच्चे विस्तृत परिवार में एकांकी तथा संयुक्त दोनों एक से अधिक परिवार सम्मिलित हो सकते हैं।

विस्तृत परिवार को प्रमुख विद्वानों ने निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है—

1. जी०पी० मर्डॉक के अनुसार, “एक विस्तृत परिवार में दो या अधिक ऐसे एकाकी परिवार सम्मिलित होते हैं जो माता—पिता बच्चे के सम्बन्ध के विस्तार द्वारा जुड़े हुए होते हैं न कि पति—पत्नी सम्बन्ध के विस्तार द्वारा, उदाहरणार्थ एक विवाहित वयस्क का एकाकी परिवार जो उसके माता—पिता से जुड़ा हुआ है।”
2. रोजर कीसिंग के अनुसुर— “विस्तृत परिवार वह गृहस्थ समूह अथवा गृहस्थ समूहों का सम्मिश्रण है जिसमें दो या अधिक एकाकी परिवार माता—पिता एवं बच्चे द्वारा अथवा संगोत्र द्वारा जुड़े हुए होते हैं।”

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विस्तृत परिवार का अर्थ एक से अधिक एकाकी परिवारों वाले गृहस्थ समूह से है।

विस्तृत परिवार के प्रमुख प्रकार :

प्रमुख विद्वानों ने विस्तृत परिवारों का वर्गीकरण कई श्रेणियों में किया है। विस्तृत परिवार के प्रमुख प्रकार निम्न हैं—

निमकॉफ का वर्गीकरण :

निमकॉफ ने विस्तृत परिवारों की निम्नलिखित चार श्रेणियों का उल्लेख किया है—

1. वंश परिवार—

वह परिवार जिसमें दो निकटवर्ती पीढ़ियों के ऐसे एकाकी परिवार सम्मिलित होते हैं जिनमें पुत्र/पुत्री अथवा पुत्री/पत्नी दो परिवारों के सदस्य होते हैं।

2. वंशागत परिवार—

इसमें वरिष्ठ पीढ़ी का एक एकाकी परिवार तथा कनिष्ठ पीढ़ी के दो या अधिक एकाकी

परिवार सम्मिलित होते हैं।

3. संयुक्त परिवार :

NOTES

वह परिवार जिसमें दो या दो से अधिक एकाकी परिवार एक साथ एक छत के नीचे रहते हैं, तथा उनका भोजन एक साथ बनता हो अर्थात् वे संयुक्त आर्थिक इकाई का निर्माण करते हो।

4. पूर्ण विस्तृत परिवार—इसमें कम से कम दो संगोत्रों के परिवार सम्मिलित होते हैं।

परिवार का विकासीय चक्र :

परिवार का निर्माता विवाह से होता है तथा इसलिये परिवार एवं विवाह को परस्पर सम्बन्धित माना जाता है। विवाह की उत्पत्ति की भाँति परिवार की उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है। फिर भी कुछ विद्वानों ने बताया कि परिवार का भी एक विकास चक्र होता है। इस विकास चक्र की व्याख्या परिवार की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्तों के आधार पर की गई है। परिवार के विकास चक्र को उत्पत्ति के सम्बन्ध में निर्मित सिद्धान्तों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। परिवार के विकासीय चक्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, जिनमें से प्रमुख निम्न प्रकार हैं—

1. शास्त्रीय अथवा पितृसत्तात्मक सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक अरस्तु एवं प्लेटों हैं। लेकिन समाजशास्त्रीय व्यवस्था के रूप में इस सिद्धान्त को सर हेनरी मेन ने 1861 ई० में प्रस्तुत किया। इनके विचारों के अनुसार परिवार का प्रारम्भिक रूप पितृसत्तात्मक ही था। पितृसत्तात्मक परिवार पितृस्थानीय था, जिसके अनुसार स्त्री विवाह के पश्चात् पत्नी के रूप में पति के घर में रहती है।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त को आधुनिक समाजशास्त्री उपयुक्त नहीं मानते हैं। यह सिद्धान्त एक विशेष सभ्यता तथा क्षेत्र के लिये ही ठीक हो सकता है, लेकिन परिवार के सामान्य और सार्वभौमिक रूप के लिये नहीं। इसलिये यह सिद्धान्त सार्वभौमिक रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

2. उद्विकासीय सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के समर्थन बैकोफेन, मॉर्गन, मैकलिनन, स्पेन्सर, टॉयलर हैं— इन्होंने परिवार के उद्विकास को निम्न प्रकार से समझाया है—

मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के पाँच स्तरों का वर्णन किया है, जो निम्न है—

1. रक्त सम्बन्धी परिवार
2. समूह परिवार
3. सिष्टेस्मियन परिवार
4. पितृसत्तात्मक परिवार
5. एक विवाही परिवार

NOTES

विभिन्न विद्वानों ने इस सिद्धान्त के व्यावहारिक दृष्टिकोण से अनुपयोगी बताया है। प्रत्येक समाज में भौगोलिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्तरों पर भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक समाज में परिवार की उत्पत्ति व उद्विकास का स्तर समान कैसे हो सकता है? साथ ही इतिहास इन स्तरों का कोई प्रभाव प्रस्तुत नहीं करता।

3. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक ब्रिफॉल्ट हैं इन्होंने अपनी पुस्तक *The Mother* में इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के समर्थक टॉयलर व बैकोफेन भी हैं। प्रारम्भ में स्त्री-पुरुष अपने पिता को नहीं जान पाते थे। माता से ही उनका सम्बन्ध रहता था। माता ही परिवार की प्रमुख होती थी, अतः आदिम समाज मातृसत्तात्मक था। घर का समस्त कार्यभार माता पर ही होता था। अतः परिवार मातृसत्तात्मक हुआ करते थे। परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त भी पूर्ण नहीं है। स्त्रियों की स्थिति शुरू से ही गौण रही है और इसीलिये परिवार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

एक विवाह का सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के जन्मदाता वेस्टरमार्क हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक *The History of Human Marriage* में इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। इनका मत है कि प्रारम्भ में विवाह का स्वरूप एक विवाही था। पुरुष शक्तिशाली होने के कारण स्त्री पर अपना अधिकार जमा लेता था और एकाधिकार और ईर्ष्या की भावना के कारण वह अपनो पत्नी की दूसरे पुरुष के साथ नहीं देखना पसन्द करता था। अतः स्त्रियाँ सदैव पुरुष के आधीन रहीं। क्रमशः यह एक सामाजिक प्रथा बन गई जिसके फलस्वरूप एक विवाही परिवार की उत्पत्ति हुई।

मैलिनोव्स्की ने भी अपनी पुस्तक *Sex and Repression in Savage Society* में कहा है कि

परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था में अपने साथ लाया है और वह परिवार एक विवाही परिवार है। उन्होंने यह भी कहा है कि एक विवाही ही विवाह का सत्य रूप है, रहा है और रहेगा।

एक विवाही सिद्धान्त की विद्वानों ने प्रशंसा की है किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त की आलोचना की गई है। वेस्टर्नार्क ने जो तर्क सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये हैं वे भ्रान्तिपूर्ण हैं क्योंकि जैवकीय आधार पर एक विवाह को हितकर नहीं माना जा सकता है। लेकिन तमाम आलोचनाओं के बाद भी यह सिद्धान्त महत्वपूर्ण है।

5. लिंग साम्यवाद का सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के समर्थक मॉर्गन, फ्रेजर और ब्रिफॉल्ट हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर समाज में विवाह जैसी कोई संस्था नहीं थी। कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री से यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। उस समय कोई न किसी का पति था और न ही कोई किसी की पत्नी, समाज में अनियमित यौन साम्यवाद की अवस्था थी। किसी भी पर्व या उत्सव के अवसर पर यौन सम्बन्ध स्थापित करने की पूर्ण स्वतंत्रता होती थी। धीरे-धीरे सभ्यता के विकास के कारण यह अवस्था अहितकर प्रतीत होने लगी और व्यक्तियों ने संगठित जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। अतः परिवार के स्वरूप का जन्म हुआ। समाजशास्त्री इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं।

6. चक्राकार सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के जन्मदाता सोरोकिन हैं। इनके अनुसार परिवार एक पैण्डुलम के समान एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमता रहता है। यह मातृसत्तात्मक से पितृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक से मातृसत्तात्मक अवस्था में बदलता रहता है। लेप्ले, स्पैंगलर आदि विद्वानों ने भी इसका समर्थन किया है।

7. प्रगतिवादी सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक ऑगबर्न एवं वार्ड हैं। इस सिद्धान्त के आधार पर परिवार का विकास एक सरल रेखा में हुआ है। परिवार की उत्पत्ति प्रगति की प्रक्रिया के फलस्वरूप हुई और विकसित होकर इसका उच्चतर रूप एक विवाह के रूप में उदय हुआ।

8. मूलर-लियर का सिद्धान्त :

मूलर-लियर ने परिवार के विकास को तीन स्तरों में विभक्त किया है—

अ. गोत्र काल— प्रारम्भिक, मध्य, अर्वाचीन

ब. परिवार काल— प्रारम्भिक, मध्य, अर्वाचीन

स. व्यक्तिगत— संस्कृति का एक भाग दूसरे भाग से सम्बद्ध रहता है। यह सिद्धान्त काफी सीमा तक ठीक है।

9. बहुसंख्यक कारकों का सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त द्वारा यह माना गया है कि परिवार की उत्पत्ति के लिये कोई एक कारण उत्तरदायी नहीं हो सकता वरन् इसके अनेक कारण हो सकते हैं जिनके द्वारा परिवार की उत्पत्ति हुई। इसके प्रमुख कारण निम्न प्रकार हैं—

1. मनुष्य की यौन सम्बन्धी प्रवृत्ति के कारण परिवार नाम की संस्था का जन्म हुआ।
2. सन्तानोत्पत्ति प्रत्येक मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः सन्तानोत्पत्ति हेतु विवाह करना आवश्यक है। बच्चों के उचित पालन-पोषण की व्यवस्था के लिये परिवार का विकास हुआ।
3. आर्थिक कारण भी परिवार के उद्भव में सहायक है।

उपरोक्त सभी कारण परिवार के विकासीय चक्र के लिये उत्तरदायी हैं।

घ. भारत में परिवार एवं विवाह :

क्षेत्रीय विभिन्नताएँ :

भारत में परिवार एवं विवाह के अनेक स्वरूप एवं प्रकार प्रचलित हैं। इनमें क्षेत्रीय विभिन्नताओं के आधार भी भिन्न-भिन्न हैं। अनेक समाजशास्त्रियों ने इसका विश्लेषण किया है। इसमें इरावती कर्वे को प्रमुख स्थान दिया गया है। जिन्होंने अपनी पुस्तक भारत में बन्धुत्व संगठन में परिवार एवं विवाह में पायी जाने वाली इन क्षेत्रीय विभिन्नताओं को बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। केएम कपाड़िया ने अपनी पुस्तक भारत में विवाह एवं परिवार में भी परिवार एवं विवाह में पाई जाने वाली क्षेत्रीय विभिन्नताओं की विवेचना की है। अनेक अन्य विद्वानों ने भी इन भिन्नताओं के संदर्भ में अपने-अपने विचार व्यक्त करने का प्रयास किया है।

इरावती कर्वे ने भारत में नातेदारी, परिवार एवं विवाह में पाई जाने वाली क्षेत्रीय

विभिन्नताओं की विवेचना करने हेतु भारत को चार सांस्कृतिक भागों में विभाजित किया है—

1. उत्तरी भाग :

उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विन्ध्यांचल पर्वत को सीमा मानकर उनके बीच का क्षेत्र उत्तरी सांस्कृतिक क्षेत्र है। इन क्षेत्रों में रहने वाले लोग अधिकांशतयः संस्कृत से जनित भाषाओं जैसे— हिन्दी, बिहारी, सिन्धी, पंजाबी आदि बोलते हैं।

2. मध्य भारत :

मध्य भारत में राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा काठियावाड़ को सम्मिलित किया जाता है। इन क्षेत्रों में राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती, मराठी, उड़ियन आदि भाषायें बोली जाती हैं।

3. दक्षिण भारत :

दक्षिण भारत में कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु एवं केरल जैसे राज्य प्रमुख रूप से सम्मिलित हैं। इन राज्यों में द्रविड़ परिवार की भाषा बोली जाती है।

4. पूर्वी भारत :

पूर्वी भारत में पूर्वोत्तर तथा पूर्व के कुछ जनसमूहों को सम्मिलित किया गया है। जो मुण्डारी एवं मोनखमेर भाषाएँ बोलते हैं।

विवाह नियमों सम्बन्धी क्षेत्रीय विभिन्नतायें :

विवाह सम्बन्धी नियमों को लेकर अलग—अलग क्षेत्रों में भिन्नतायें देखने को मिलती हैं। इस दृष्टि से मुख्य रूप से निम्नलिखित भिन्नतायें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं—

1. उत्तरी क्षेत्र में सपिण्ड विवाह को निषेध पाया जाता है, जबकि दक्षिण भारत में वाचा—भतीजी विवाह अधिमान्य विवाह के रूप में प्रचलित है।
2. सपिण्ड विवाह भिषेध की भाँति उत्तरी क्षेत्र में, 'बिलिंग सहोदराज अर्थात् ममेरे या फुफेरे भाई—बहन के बीच विवाह को स्वीकृति नहीं है। वही दूसरी ओर दक्षिण क्षेत्र में इस विवाह को अधिमान्य विवाह के रूप में स्वीकृत किया जाता है।
3. उत्तरी क्षेत्र में कन्या विनिमय द्वारा विवाह भी नहीं किये जाते। वही दूसरी ओर दक्षिण क्षेत्र में कन्या विनिमय विवाह का सामान्य प्रचलन देखा जा सकता है।
4. उत्तरी क्षेत्र में परस्पर अन्तर्विवाही परिवारों के संकुल और उनमें विवाह की पुनरावृत्ति

पर आग्रह पाया जाता है। जबकि दक्षिण क्षेत्र में अपरिचित परिवारों में विवाह एवं विवाह की पुनरावृत्ति पर बल नहीं दिया जाता है।

5. उत्तरी क्षेत्र में गाँव से बाहर विवाह का आमतौर पर प्रचलन है, जबकि दक्षिण में गाँव के अन्दर विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

परिवार नियमों सम्बन्धी क्षेत्रीय विभिन्नतायें :

जिस प्रकार विवाह, नातेदारी, बोली आदि से सम्बन्धी क्षेत्रीय विभिन्नतायें देखने को मिलती हैं। उसी प्रकार भारतीय समाज में परिवारिक नियमों सम्बन्धी क्षेत्रीय विभिन्नतायें भी देखने को मिलती हैं। हमारे भारतवर्ष में प्रायः दो प्रकार के परिवार मातृवंशीय परिवार या पितृवंशीय परिवार देखने को मिलते हैं। मातृवंशीय परिवार अधिकतर भारत के निम्नलिखित क्षेत्रों में देखने को मिलते हैं। परिवार इन क्षेत्र की जनजातियों में पाये जाते हैं—

1. ब्रह्मपुत्र के दक्षिणी तट पर निवास करने वाली खासी तथा गारो जनजातियों में है।
2. केरल के नायरों में।
3. दक्षिण भारत के कादर, इरुला, पुलायन जनजातियों में।

लेकिन पितृवंशीय परिवार भारत में अधिक पाये जाते हैं और यह भारत के अधिकतर सभी क्षेत्र के समाजों में पाये जाते हैं। इनका प्रचलन अधिक है। पितृवंशीय परिवार को भारत में पिता के कुल व वंश को ग्रहण कर पुत्र को उत्तराधिकारी माना जाता है।

परिवर्तन की शक्तियाँ बालकों एवं वृद्धजनों के देखभाल के संदर्भ में परिवार :

ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने बालकों की देखभाल के संदर्भ में कार्यों को सात भागों में बांटा है— प्रेम सम्बन्धी कार्य, रक्षा सम्बन्धी कार्य, आर्थिक कार्य, मनोरंजन सम्बन्धी कार्य, पारिवारिक प्रस्थिति सम्बन्धित कार्य, शिक्षा सम्बन्धी कार्य तथा धर्म सम्बन्धी कार्य। वर्तमान समय में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण, औवागमन एवं संचार की सुविधाओं, स्त्रियों का नौकरी करना, विज्ञान की प्रगति आदि के कारण इन कार्यों में तथा बालकों एवं वृद्धजनों की देखभाल में परिवर्तन आया है। तथा देखभाल सम्बन्धी इन कार्यों को संस्थाओं जैसे— नर्सरी एवं किण्डरगार्टन स्कूल, वृद्धों की देखभाल के लिये वृद्ध आश्रम, तथा समाज की द्वितीयक समीतियों के द्वारा भी किया जाता है। किन्तु फिर भी बच्चों एवं वृद्धों की देखभाल का उत्तरदायेत्व परिवार पर ही है। बालक का लालन—पालन, उसकी शिक्षा में अब भी

परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है।

NOTES

परिवर्तन की गति इतनी तेज हो गयी है कि जिससे हम आगे बढ़ते जा रहे हैं लेकिन हम अपने उत्तरदायित्वों को पीछे छोड़ते जा रहे हैं अपने घर-परिवार को भी समय देने में असमर्थ से प्रतीत होते हैं। हम बाहर के लोगों की मदद के बारे में तो सोचते हैं लेकिन जो हमारे मूल भूत कार्य हैं अपने बच्चों एवं वृद्धों की देखभाल इस परिवर्तन, औद्योगिक पश्चिमीकरण में हमने कहीं खो दिया है।

बालक के देख-रेख के सम्बन्ध में परिवार की भूमिका :

1. शारीरिक विकास :

बाल्याकाल विकास और निर्माण की अवस्था होती है। परिवार का वातावरण ऐसा होना चाहिये जिसमें बालक को समस्त सुविधायें प्राप्त हों जैसे— उपयुक्त भोजन, मनोरंजन, चिकित्सा, स्वास्थ्य, विश्राम आदि। ताकि बालक का शारीरिक विकास हो सके।

2. मानसिक विकास :

शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक विकास भी स्वस्थ रहने के लिये आवश्यक है। अतः पारिवारिक देख-रेख का उद्देश्य बालक के मस्तिष्क का पूर्ण विकास करना है।

3. सामाजिक विकास :

बालक को सामाजिक प्राणी बनाने का कार्य परिवार में ही किया जाता है।

4. सांस्कृतिक विकास एवं चारित्रिक विकास :

परिवार के सदस्यों को आचार-विचार, रहन-सहन, धार्मिक कार्य आदि देखकर बच्चा पारिवारिक संस्कृति को जानता है और उन्हें ग्रहण करने की कोशिश करता है। बालक की उचित देख-रेख उसके चरित्र निर्माण में भी सहायक होती है।

5. आदर्श नागरिक गुणों का विकास :

परिवार के सदस्यों को आपस में अच्छा आचरण करना चाहिये जिससे बालक भी अच्छे आचरण सिखेगा तथा आदर्श गुणों को ग्रहण करेगा और एक आदर्श नागरिक के गुणों का विकास होगा।

उपरोक्त बातों के साथ-साथ एक बालक में धार्मिक शिक्षा, व्यावहारिक शिक्षा, व्यक्तित्व

का विकास, वास्तविक जीवन से अवगत कराना आदि गुणों का होना भी आवश्यक है। तभी एक बालक का सर्वांगीण विकास सम्भव है। ये सभी गुण बालक को अपने परिवार में ही सम्भव हैं।

NOTES



इकाई—पंचम

परीक्षोपयोगी विस्तृत उत्तरीय प्रश्न :

1. निवास से आप क्या समझते हैं? उनके प्रकारों का वर्णन कीजिए?
2. पुरुष प्रधान निवास एवं स्त्री प्रधान निवास को समझाते हुए इनमें अन्तर स्पष्ट कीजिए?
3. वंशावली विधि क्या है? इसके द्वारा सूचना संकलन करने की प्रक्रिया बताइए?
4. वंशावली पद्धति को समझाते हुए इसके गुण दोष तथा सावधानियों की विवेचना कीजिए?
5. परिवार को परिभाषित कीजिये तथा इसके प्रमुख प्रकार एवं कार्य बताइए?
6. प्राथमिक परिवार किसे कहते हैं? यह विस्तृत परिवार से किस प्रकार भिन्न है?
7. विस्तृत परिवार को परिभाषित कीजिये? उसके प्रकारों का वर्णन कीजिए?
8. परिवार क्या है? इसके विकासीय चक्र की विवेचना कीजिए?
9. भारत में परिवार एवं विवाह में क्षेत्रीय भिन्नताओं पर प्रकाश डालिए?
10. परिवर्तन की शक्तियों का बालकों एवं वृद्धजनों के देखभाल के सन्दर्भ में परिवार की भूमिका को स्पष्ट कीजिए?



